तरुण-भारत-ग्रन्थावली—सं० १७

साहित्य-सीकर

महावीरप्रसाद द्विवेदी

साहित्य-सीकर

लेखक
महावीरप्रसाद द्विवेदी

प्रकाशक
तरुण-भारत-ग्रन्थावली-कार्यालय
दारागंज, प्रयाग

[संस्करण]   सं० १९८७   [मूल्य १) रु०

निवेदन

भाषा उन्नत हो या अनुन्नत, यदि वह किसी सभ्य और शिक्षित जन-समुदाय की भाषा है तो उसके साहित्य का समग्र ज्ञान सम्पादन कर लेना किसी साधारण मनुष्य का काम नहीं। अपनी हिन्दी-भाषा ही को लीजिए। यद्यपि उसका साहित्य अभी तक विशेष समृद्ध नहीं, तथापि कोई आठ-नौ सौ वर्ष से उसमें ग्रन्थ-रचना होती आ रही है। आधुनिक खोज से पता चला है कि चन्द-वरदायी ही हिन्दी का आदि-कवि नहीं। उसके पहले, ईसा की दसवीं शताब्दी ही में, जैन-पण्डितों ने उस समय की हिन्दी में पुस्तक-प्रणयन का आरम्भ कर दिया था। इस दशा में अकेली हिन्दी ही के साहित्य का पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लेना किसी एक आदमी के लिए प्रायः असम्भव सा है। फिर यदि एक नहीं, कई भाषाओं के साहित्य की ज्ञानप्राप्ति का दावा कोई करे तो उसका वह दावा कदापि साधार नहीं माना जा सकता। इस पुस्तक में जो लेख संगृहीत हैं उनमें हिन्दी के सिवा कई अन्य भाषाओं के साहित्य-सम्बन्धी विचारों की भी पुट है। इससे यह न समझना चाहिए कि लेखक या संग्रहकार उन सभी साहित्यों का ज्ञाता है। उसने यदि दो बातें अपने ज्ञान के आधार पर लिखी हैं तो चार दूसरों के द्वारा वितरण किये गये ज्ञान के आधार पर। इसी से उसने इस साहित्य-लेख-संग्रह के नाम में सीकर-शब्द का प्रयोग किया है। सीकर कहते हैं छींटे को। अतएव साहित्य तथा उससे सम्बद्ध जिन अन्य विषयों की चर्चा उसने इस पुस्तक में की है उस चर्चा को पाठक, अपने-अपने विषयज्ञान की छींटें मात्र समझने की कृपा करें।

ज्ञान-सागर की थाह नहीं; उसकी इयत्ता नहीं। अल्पज्ञ मनुष्य अपने आप बहुत ही थोड़ी ज्ञान-प्राप्ति कर सकता है। ज्ञान की अधिकांश प्राप्ति उसे अपने पूर्ववर्ती विद्वानों के द्वारा वितरित ज्ञान ही से होती है। इस दशा में जो लोग पूर्वसञ्चित ज्ञान से लाभ उठाते हैं और उससे दूसरों को भी लाभान्वित करने की चेष्टा करते हैं उनका यह

कार्य्य यदि स्तुत्य नहीं तो निन्द्य भी नहीं कहा जा सकता। अतएव इस पुस्तक में सन्निविष्ट लेख लिखने में दूसरों के ज्ञान से लाभ उठाने के लिए इस निवेदन का कर्ता क्षमा किया जाने योग्य है।

इसमें जिन लेखों का समावेश है उन सब का कुछ न कुछ सम्बन्ध साहित्य से अवश्य है—वह साहित्य चाहे हिन्दी का हो, चाहे प्राकृत का, चाहे लौकिक या वैदिक संस्कृत का। कापी-राइट ऐक्ट एक ऐसा क़ानून है जिसका ज्ञान प्रत्येक पुस्तक-प्रकाशक और साहित्य-सेवी लेखक को होना चाहिए। इस क़ानून पर भी दो लेख इस संग्रह में मिलेंगे। विदेशी विद्वान् क्यों और कितना श्रम उठाकर संस्कृत भाषा सीखते हैं, इसका भी निदर्शन इस पुस्तक में किया गया है। इसके सिवा अन्य लेख भी इसमें ऐसे ही रक्खे गये हैं जो साहित्यक्षेत्र की सीमा के सर्वथा भीतर ही हैं। आशा है, साहित्यसेवी और साहित्य-प्रेमी सभी के मनोरञ्जन की कुछ न कुछ सामग्री उनमें मिलेगी। यदि उनसे किसी की ज्ञानवृद्धि अथवा मनोरञ्जन न भी हो, तो भी पाठकों को उनसे इतना तो अवश्य ही मालूम हो सकेगा कि जिस समय वे लिखे गये थे उस समय हिन्दी में किस प्रकार के लेखों के प्रकाशन की आवश्यकता समझी जाती थी तथा उस समय की स्थिति से आजकल की स्थिति में कितना अन्तर हो गया है। सौभाग्य से, आगे, किसी समय, यदि हिन्दी-साहित्य का इतिहास लिखने का उपक्रम हुआ तो इतिहास-लेखक को, साहित्य की सामयिक अवस्था की तुलना करने में, इस पुस्तक से थोड़ी-बहुत सहायता अवश्य ही मिलेगी। क्योंकि इसमें हर लेख के नीचे उसके लिखे जाने का समय दे दिया गया है।

इस संग्रह में कुछ लेख औरों के भी हैं। पर अभिन्नात्मा समझे जाने के कारण उनके भी वे लेख इसमें रख दिये गये हैं।

दौलतपुर (राय-बरेली) }
१ जनवरी १९२९ } महावीरप्रसाद द्विवेदी

विषय-सूची

ग्रन्थकार

आचार्य पं० महावीरप्रसादजी द्विवेदी

साहित्य-सीकर

१—वेद

वेद शब्द "विद्" धातु से निकला है। इस धातु से जानने का अर्थ निकलता है। अतएव वेद वह धर्म्म-ग्रन्थ है जिसकी कृपा से ज्ञान की प्राप्ति होती है—जिससे सब तरह की ज्ञान की बातें जानी जाती हैं।

वेद पर सनातनधर्म्मावलम्बी हिन्दुओं का अटल विश्वास है। वेद हम लोगों का सब से श्रेष्ठ और सब से पुराना ग्रन्थ है। वह इतना पुराना है कि किरिस्तानों का बाइबिल, मुसल्मानों का क़ुरान, पारसियों की जेन्द-आवेस्ता और बौद्धों के त्रिपिटक आदि सारे धर्म्म-ग्रन्थ प्राचीनता में कोई उसकी बराबरी नहीं कर सकते। इसीसे वेद को अन्यान्य धर्म्मावलम्बी विद्वान् भी आदर की दृष्टि से देखते हैं। जर्म्मनी में तो कुछ विद्वानों ने केवल वेद-विषयक साहित्य के परिशीलन में अपनी सारी उम्र ख़र्च कर दी है। वेद यद्यपि एकमात्र हमारे पूर्वजों की सम्पत्ति है, तथापि कोई ५०-६०, वर्षों से उसकी चर्चा इस देश की अपेक्षा पश्चिमी देशों ही में अधिक है। हाँ, अब कुछ दिनों से यहाँ के भी कोई-कोई विद्वान् वैदिक साहित्य के अध्ययन, अध्यापन, समालोचन और प्रकाशन में दत्तचित्त हुए हैं।

मुसल्मान उल्मा समझते हैं कि त्रिलोक का ज्ञान उनके कुरान में भरा है। इससे सब लोगों को उसी का मनन और निदिध्यासन करना चाहिए। और किसी धर्म्म-पुस्तक के पढ़ने की ज़रूरत नहीं। जिस मुसल्मान-नरेश ने अलेग्जांड्रिया का विश्वविख्यात पुस्तकालय जलाकर ख़ाक कर दिया उसकी भी यही समझ थी। इससे जब पुस्तकालय के अधिकारी उससे पुस्तकालय छोड़ देने के लिए प्रार्थना करने गये तब, आप जानते हैं, उसने क्या उत्तर दिया ? उसने कहा कि इस पुस्तकालय में संग्रह किये गये लाखों ग्रन्थों में जो ज्ञान-कथा है वह हमारे कुरान में है। सच्चे ज्ञान की कोई बात उससे नहीं छूटी। इसलिए इन इतने ग्रन्थों के संग्रह की कोई ज़रूरत नहीं और यदि इनकी कोई बात कुरान में नहीं है तो वह सच्चे ज्ञान की बोधक नहीं। अतएव इस तरह भी इन ग्रन्थों की कोई ज़रूरत नहीं। इन सब का काम अकेले हमारे कुरान शरीफ़ से चल सकता है। सो इसी सच्चे ज्ञान की बदौलत इस देश के वेद-ग्रन्थों का एक बड़ा अंश नष्ट हो गया। वेदों की कितनी ही शाखायें, अनुक्रमणिकायें और ब्राह्मण लोप हो गये। जब अँगरेज़ों को वेद-ग्रन्थों की चाह हुई तब उनका मिलना मुश्किल हो गया। जयपुर पर मुसल्मान बादशाहों की दया-दृष्टि रही है। इससे वहाँ का वेद-ज्ञान-भाण्डार "पलीता" लगाने से बच गया।

१७७९ ईसवी में कर्नल पोलियर ने तत्कालीन जयपुर-नरेश से वेद-चतुष्टय की नक़ल माँगी। उन्होंने इस बात को स्वीकार करके वेदों की नक़ल की जाने की आज्ञा दे दी। एक वर्ष में नक़ल तैयार हुई। पर साहब लोग समझे थे कि वेदों का नाश हो चुका है। इससे उनके वेद होने में उन्हें विश्वास न हुआ। वे समझे कि ये बनावटी वेद हैं। इस कारण कर्नल पोलियर ने उस समय के प्रसिद्ध पण्डित राजा आनन्दराम को वह नक़ल दिखाई। उन्होंने उस ग्रन्थ को यथार्थ वेद बतलाया।

तब वह लन्दन के "ब्रिटिश म्यूज़ियम" नामक पुस्तकालय को भेजा गया। वहाँ उसकी और भी कितनी ही कापियाँ हुईं। इस प्रकार योरप में वेदों का प्रचार हुआ।

इसके पहले कोलब्रुक साहब ने भी वेद-प्राप्ति की चेष्टा की थी; पर किसी दक्षिणी पण्डित ने स्तुतियों से पूर्ण एक ग्रन्थ उन्हें दे दिया और कहा, यही वेद है। भला म्लेच्छों को कहीं दाक्षिणात्य पण्डित वेद दे सकते हैं ? ऐसा ही धोखा एक और साहब को भी दिया गया था। मदरास के किसी शास्त्री ने सत्रहवीं शताब्दी में एक कृत्रिम यजुर्वेद की पुस्तक फ़ादर रावर्ट डि नोबिली नामक पादरी को देकर उससे बहुत सा रुपया ऐंठ लिया। यह ग्रन्थ १७६१ ईसवी में पेरिस के प्रधान पुस्तकालय में पहुँचा। वहाँ पहले इसकी बड़ी क़दर हुई। पर सारा भेद पीछे से खुल गया। अब इस तरह की धोखेबाज़ी का कोई डर नहीं। अब तो इँगलेंड, फ्राँस और जर्मनी में बड़े-बड़े वेदज्ञ पण्डित हैं। वेदों के सम्बन्ध में वे नई-नई बातें निकालते जाते हैं; नये-नये ग्रन्थ और टीका-टिप्पणियाँ प्रकाशित करते जाते हैं। वेदाध्ययन में वे अहर्निश रत रहते हैं। क्या ही उत्तम बात हो जो पण्डित सत्यव्रत सामश्रमी की तरह इस देश के भी पण्डित वैदिक ग्रन्थों के परिशीलन और प्रकाशन में परिश्रम करें।

वेद को हिन्दूमात्र आदर की दृष्टि से देखते हैं, और देखना ही चाहिए। वेद हमारा अति प्राचीन धर्म्म-ग्रन्थ है। यथा-शास्त्र वेदगान सुनकर अपूर्व आनन्द होता है। वेदों की भाषा यद्यपि बहुत पुरानी, अतएव क्लिष्ट है, तथापि उसका कोई-कोई अंश बहुत ही सरस है—ऐसे अंशों के पाठ से कविता-प्रेमी जनों को वही आनन्द मिलता है जो कालिदास और भवभूति आदि के ग्रन्थों से मिलता है। वेदों की "त्रयी" संज्ञा है। त्रयी कहने से ऋक्, यजु और साम, इन्हीं तीन

वेदों का ज्ञान होता है। अथर्ववेद एक प्रकार का परिशिष्ट है। ऋग्वेद में तीन ही वेदों का उल्लेख है। यथा—

"अहे बुध्निय मन्त्रं मे गोपाया
यमृषयस्त्रयी वेदा विदुः।
ऋचो यजूँषि सामानि"।

मनुस्मृति में भी मनु ने "दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुःसामलक्षणम्" कह कर तीन ही वेदों का नाम लिया है। परन्तु पीछे से चार वेद माने जाने लगे। श्रीमद्भागवत और विष्णुपुराण आदि पुराणों में तो सर्वत्र ही चार वेदों का उल्लेख है—लिखा है कि ब्रह्मा के एक-एक मुँह से एक-एक वेद निकला है।

सनातनधर्म्मावलम्वी हिन्दुओं का पक्का विश्वास है कि वेद नित्य हैं। वे ईश्वर-प्रणीत हैं। कपिल ने सांख्य-दर्शन में ईश्वर की स्थिति में तो सन्देह किया है—"प्रमाणाभावान्न तत्सिद्धिः"; पर वेदों के ईश्वर-प्रणीत होने में कोई सन्देह नहीं किया। यथा—

"न पौरुषेयत्वं तत्कर्त्तुः पुरुषस्यासम्भवात्"।

न्याय-दर्शन के कर्त्ता गौतम को छोड़कर सब दर्शनकारों की यही राय है। सब वेदों को ईश्वर-कृत मानते हैं। अकेले गौतम ही ने उन्हें पौरुषेय अर्थात् पुरुषकृत लिखा है। अब नहीं कह सकते, इस "पौरुषेय" से उनका क्या मतलब था? वे वेदों को साधारण हम तुम सदृश पुरुषों के रचे हुए मानते थे, या पुरुष-प्रकृतिवाले "पुरुष" (ईश्वर) से उनका मतलब था। यदि उन्हें पिछली बात अभीष्ट थी तो यह कहना चाहिए कि सभी दर्शनकारों की इस विषय में एकता है। किसी-किसी मुनि की तो यहाँ तक राय है कि वेद नित्य हैं और उन्हीं के अनुसार ईश्वर सृष्टि की रचना करता है। सो वेद ईश्वर के भी पथ-प्रदर्शक हुए। वेद नित्य हैं, इससे कल्पान्त में वे हिरण्यगर्भ (ब्रह्मा) को आप ही आप

प्राप्त हो जाते हैं। सृष्टि के आदि में हिरण्यगर्भ ही पहले पहल पैदा होते हैं। वेद उनके पूर्वाभ्यस्त रहते हैं। इससे स्मरण करते ही उन्हें वे आप ही आप याद हो जाते हैं। सोकर जगने पर क्या पूर्वाभ्यस्त बातें किसी को भूल भी जाती हैं? फिर हिरण्यगर्भ को वेद कैसे भूल सकते हैं? इस तरह के शास्त्रार्थ से कितने ही प्राचीन ग्रंथ भरे पड़े हैं।

इस समय आर्य्य-समाज में वैदिक बातों पर बहुधा विचार हुआ करता है। इस समाज के कोई-कोई अनुयायी वेद का यथार्थ अर्थ जानने की चेष्टा भी करते हैं। "त्रिवेद-निर्णय" नामक पुस्तक इसका प्रमाण है। वे भी वेदों को ईश्वरोक्त मानते हैं। परन्तु वेदों को विचारपूर्वक पढ़ने से यह बात नहीं पाई जाती। इसीसे इस समय के अच्छे-अच्छे विद्वान् वेदों के कर्त्तृत्व-विषय में वाद-विवाद नहीं करते। वे इसकी ज़रूरत ही नहीं समझते। वे जानते हैं कि वेद मनुष्य-निर्म्मित हैं। परन्तु सर्वसाधारण ऐसा नहीं मानते। इससे जो कोई वेदों के ईश्वर-प्रणीत होने में शङ्का करता है उसे वे घोर पापी और घोर अधर्म्मी समझते हैं। इसे हम बख़ूबी जानते हैं। तिस पर भी जो हम सर्वसाधारण के विश्वास के विरुद्ध लिख रहे हैं उसका कारण है—"सत्ये नास्ति भयं क्वचित्"।

वेदाध्ययन से नहीं, वेदपाठ ही से मालूम होता है कि वैदिक ऋषि ही वेद-प्रणेता हैं। वैदिक सूक्तों ही में प्रणेता ऋषियों के नाम विद्यमान हैं। इन्हीं ऋषियों ने अनेक प्रकार के छन्दों में स्तोत्र आदि बनाकर देवताओं की स्तुति और प्रार्थना की है। यह सब उन्होंने अपने-अपने अभीष्ट-साधन के लिए किया था। लिखा भी है—"अर्थं पश्यन्तु ऋषयो देवताश्छन्दोभिरभ्यधावन्"। जैसे पीछे के संस्कृत-कवियों ने गणेश, दुर्गा, शिव, विष्णु, सूर्य आदि की स्तुतियों से पूर्ण स्तोत्र बनाये हैं वैसे ही अग्नि, सोम, वरुण, सविता, इन्द्र आदि की स्तुतियों से परिपूर्ण स्तोत्र वैदिक ऋषियों के बनाये हुए हैं। यहाँ पर कोई यह कह

सकता है कि वैदिक ऋषि मन्त्रद्रष्टा थे। उन्होंने योगबल से ईश्वर से प्रत्यादेश की तरह वैदिक मन्त्र प्राप्त किये हैं। यदि यह बात है तो इन सूक्तों में इन ऋषियों की निज की दशा का वर्णन कैसे आया ? ये मन्त्र इनकी अवस्था के ज्ञापक कैसे हुए ? ऋग्वेद का कोई ऋषि कुवें में गिर जाने पर उसीके भीतर पड़े-पड़े स्वर्ग और पृथिवी आदि की स्तुति कर रहा है। कोई इन्द्र से कह रहा है, आप हमारे शत्रुओं का संहार कीजिए। कोई सविता से प्रार्थना कर रहा है कि हमारी बुद्धि को बढ़ाइए। कोई बहुत सी गायें माँग रहा है, कोई बहुत से पुत्र। कोई पेड़, सर्प, अरण्यानी, हल और दुन्दुभी पर मन्त्र-रचना कर रहा है। कोई नदियों को भला-बुरा कह रहा है कि ये हमे आगे बढ़ने में वाधा डालती हैं। कहीं मांस का उल्लेख है, कहीं सुरा का। कहीं द्यूत का। ऋग्वेद के सातवें मंडल में तो एक जगह एक ऋषि ने बड़ी दिल्लगी की है। सोमपान करने के अनन्तर वेद-पाठ-रत ब्राह्मणों की वेद-ध्वनि की उपमा आपने बरसाती मेंढकों से दी है ! ये सब बातें वेद के ईश्वरप्रणीत न होने की सूचक हैं। ईश्वर के लिए गाय, भैंस, पुत्र, कलत्र, दूध, दही, माँगने की कोई ज़रूरत नहीं। यह ऋग्वेद की बात हुई। यजुर्वेद का भी प्रायः यही हाल है। सामवेद के मन्त्र तो कुछ को छोड़कर शेष सब ऋग्वेद ही से चुने गये हैं। रहा अथर्ववेद, सो वह तो मारण, मोहन, उच्चाटन, और वशीकरण आदि मन्त्रों से परिपूर्ण है। स्त्रियों को वश करने और जुवे में जीतने तक के मन्त्र अथर्ववेद में हैं। अतएव इस विषय में विशेष वक्तव्य की ज़रूरत नहीं। न ईश्वर जुवा खेलता है, न वह स्त्रैण ही है और न वह ऐसी बातें करने के लिए औरों को प्रेरित ही करता है। ये सब मनुष्यों ही के काम हैं; उन्हींने वेदों की रचना की है।

परन्तु ईश्वर-प्रणीत न होने से वेदों का महत्त्व कुछ कम नहीं हो सकता। चाहे ऐतिहासिक दृष्टि से देखिए, चाहे धार्मिक दृष्टि से देखिए,

चाहे विद्या-विषयक दृष्टि से देखिए, वेदों की बराबरी और किसी देश का कोई ग्रन्थ नहीं कर सकता। प्राचीन समय की विद्या, सभ्यता और धर्म का जैसा उत्तम चित्र वेदों में पाया जाता है, अन्यत्र कहीं नहीं मिल सकता। वैदिक समय में भारतवासियों की सामाजिक अवस्था कैसी थी, वे किस तरह अपना जीवन निर्वाह करते थे, कहाँ रहते थे, क्या किया करते थे—इन सब बातों का पता यदि कहीं मिल सकता है तो वेदों ही में मिल सकता है। अतएव वेदाध्ययन करना हम लोगों का बहुत बड़ा कर्त्तव्य है।

जिस रूप में आजकल वेद-ग्रन्थ देखे जाते हैं वह उनका आदिम रूप नहीं। उनका वर्त्तमान रूप वेदव्यासजी की कृपा का फल है। व्यासजी के पहले वैदिक स्तोत्र-समूह एक जगह एकत्र न था। वह कितने ही भिन्न-भिन्न अंशों में प्राप्य था। क्योंकि सारे स्तोत्र-समूह की रचना एक ही समय में नहीं हुई। कुछ अंश कभी बना है, कुछ कभी। किसी की रचना किसी ऋषि ने की है, किसी की किसी ने। उन सब बिखरे हुए मन्त्रों को कृष्ण द्वैपायन ने एक प्रणाली में बद्ध कर दिया। तभी से वेदों के नाम के आगे "संहिता" शब्द प्रयुक्त होने लगा। उसका अर्थ है—"समूह", "जमाव", "एकत्रीकरण"। वर्त्तमान रूप में वेद-प्रचार करने ही के कारण बादरायण का नाम वेद-व्यास पड़ा। उन्होंने समग्र वेद अपने चार शिष्यों को पढ़ाया। बह्वृच नामक ऋग्वेद-संहिता पैल को, निगद नामक यजुर्वेद-संहिता वैशम्पायन को, छन्दोग नामक सामवेद-संहिता जैमिनि को और अङ्गिरसी नामक अथर्व-संहिता सुमन्तु को। इन चारों शिष्यों ने अपने-अपने शिष्यों को नई प्रणाली के अनुसार वेदाध्ययन कराया। इस प्रकार वेद-पाठियों की संख्या बढ़ते-बढ़ते वेदों की अनेक शाखायें हो गईं—मन्त्रों में कहीं-कहीं पाठ-भेद हो गया। किसी ऋषि के पढ़ाये शिष्य एक तरह का पाठ पढ़ने लगे;

किसी के और तरह का। यह पाठ-भेद यहाँ तक बढ़ गया कि सामवेद की सौ तक शाखायें हो गईं ! परन्तु अब ये सब शाखा-पाठ नहीं मिलते। कुछ ही मिलते हैं।

वेदों के व्याख्यान अर्थात् टीका का नाम "ब्राह्मण" है। बहुत लोग संहिता और ब्राह्मण दोनों की "वेद" संज्ञा मानते हैं। वे कात्यायन के "मन्त्र-ब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्" इस वाक्य का प्रमाण देते हैं। परन्तु यह बात विचारणीय है। ब्राह्मण-ग्रंथों में वैदिक मन्त्रों का मतलब समझाया गया है। और, और भी कितनी ही बातें हैं। अतएव उनकी रचना वेदों के साथ ही हुई नहीं मानी जा सकती। वैदिक मन्त्रों का आशय समझने में जब कठिनाई पड़ने लगी होगी तब "ब्राह्मण" बनाये गये होंगे, पहले नहीं। ऋग्वेद के ब्राह्मणों में विशेष करके होता के कामों का विधान है। यजुर्वेद के ब्राह्मणों में अध्वर्यु के और सामवेद के ब्राह्मणों में उद्गाता के। यज्ञ-सम्बन्धी बातों को खूब समझाने और यज्ञ-कार्य्य का सम्बन्ध वैदिक मन्त्रों से अच्छी तरह बतलाने ही के लिए ब्राह्मणों की सृष्टि हुई है। संहिता पद्य में है, ब्राह्मण गद्य में। गद्य के बीच में कहीं कहीं "गाथा" नामक पद्य भी ब्राह्मणों में हैं।

ब्राह्मण-ग्रन्थों के अन्त में "आरण्यक" हैं। जो घर छोड़कर बन चले गये हैं, अतएव जिन्होंने यज्ञ करना बन्द कर दिया है, ये "आरण्यक" ग्रन्थ उन्हींके लिए हैं। उन्हींके काम की बातें इनमें हैं। "आरण्यक" से उतरकर उपनिषद् हैं। वे सब ज्ञानकाण्ड के अन्तर्गत हैं।

यज्ञ-सम्बन्धी क्रिया-कलाप, अर्थात् कर्म्मकाण्ड का, विषय जब बहुत पेचीदा हो गया और साधारण आदमी ब्राह्मण-ग्रन्थों का ठीक-ठीक मतलब समझने अथवा तदनुसार क्रिया-निर्वाह करने में असमर्थ होने लगे, तब श्रौत, गृह्य और धर्म्म-सूत्रों की उत्पत्ति हुई। इन ग्रन्थों में सब बातें

थोड़े में समझाई गई हैं। श्रौत-सूत्रों में श्रुति (यहाँ "ब्राह्मणों" से मतलब है) में उल्लिखित बड़े-बड़े यज्ञों के विधान आदि हैं। गृह्य-सूत्रों में जनन, मरण, विवाह आदि संस्कारों की विधि है; और धर्म्म-सूत्रों में धर्म्म-सम्बन्धी, अर्थात् धर्म्मशास्त्रों या स्मृतियों की बातें हैं। इनके सिवा "अनुक्रमणी" नामक ग्रन्थों की गिनती भी वैदिक-साहित्य में की जाती है। इन ग्रन्थों में वेदों के पाठ आदि का क्रम लिखा है। यह इसलिए किया गया है जिसमें वेदों का कोई अंश खो न जाय, अथवा उसमें पाठान्तर न हो जाय। एक अनुक्रमणी में तो ऋग्वेद के सूक्तों की, मन्त्रों की, शब्दों की, यहाँ तक कि अक्षरों तक की गिनती भी दी है!

प्रातिशाख्य, परिशिष्ट, बृहद्देवता, निरुक्त आदि भी वैदिक साहित्य के अङ्ग हैं।

ऋग्वेद सब वेदों से पुराना है। वही सब से अधिक महत्त्व का भी है। मण्डल नामक १० अध्यायों में वह विभक्त है। कोई १५ प्रकार के वैदिक छन्दों में उसकी रचना हुई है। ऋग्वेद का कोई चतुर्थांश गायत्री नामक छन्द में है। ऐसे तीन ही छन्द हैं जिनका प्रयोग अधिकता के साथ किया गया है। और छन्दों का कम प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद की ऋचाओं की रचना भिन्न-भिन्न ऋषियों के द्वारा भिन्न-भिन्न समय में हुई है। इस वेद के ऋषि प्रतिभाशाली कवि थे—कवि नहीं, श्रेष्ठ कवि थे। इसके अधिकांश मन्त्रों की रचना वैदिक देवताओं को उद्देश करके की गई है। उनमें उनके बल-वीर्य, शक्ति, प्रभुता, औदार्य आदि की प्रशंसा है। इन मन्त्रों के रचयिता ऋषियों ने देवताओं की स्तुति और प्रशंसा के द्वारा उनसे लौकिक सुख-प्राप्ति के लिए प्रार्थना की है। बहुत से पशु, बहुत से पुत्र-पौत्र, बहुत सा ऐश्वर्य्य, दीर्घायु और शत्रुओं पर विजय-प्राप्ति के लिए उन्होंने देवताओं की स्तुति की है। लौकिक सुख-प्राप्ति की तरफ़ उनका ध्यान अधिक था, पारलौकिक की तरफ़ कम। यज्ञों के

सम्बन्ध में अग्नि और सोम आदि देवताओं के लम्बे-लम्बे स्तोत्रों से ऋग्वेद भरा हुआ है। बीच-बीच में याज्ञिक विषयों के आ जाने से स्तोत्र-जनित रसानुभव में यद्यपि कुछ विघात होता है, तथापि जिस सादगी और जिस भक्ति-भाव से पुरातन ऋषियों ने अपने विचार प्रकट किये हैं वह अवश्य प्रशंसनीय है। इन्द्र, वरुण, अग्नि, मातरिश्वन्, सविता, पूषण, ऊषा आदि जितने देवताओं की स्तुति की गई है, प्रायः उन सब से मतलब किसी न किसी प्राकृतिक पदार्थ से है। अर्थात् प्राकृतिक वस्तुओं और प्राकृतिक दृश्यों ही को देवता मानकर, या उन पर देवत्व का आरोप करके, उनका स्तवन किया गया है। एक ऋषि आश्चर्य्यपूर्वक कहता है, यह सूर्य आकाश से गिर क्यों नहीं पड़ता ? दूसरा कहता है, ये तारे दिन में कहाँ चले जाते हैं ? तीसरे को यह विस्मय हो रहा है कि बड़ी-बड़ी अनेक नदियों के गिरने पर भी क्यों समुद्र अपनी हद से बाहर नहीं जाता ? इसी तरह आश्चर्य्य और कौतुक के वशीभूत होकर प्राचीन ऋषियों ने प्राकृतिक पदार्थों को देवता मानना आरम्भ कर दिया। इस आरम्भ का अन्त कहाँ जाकर पहुँचा, इसे कौन नहीं जानता ? ऋग्वेद के ३३ देवता बढ़ते-बढ़ते ३३ करोड़ हो गये।

मीमांसा-दर्शन के कर्त्ता जैमिनि का मत है कि "देवता" नाम के कोई सजीव पदार्थ नहीं। "इन्द्र" कहने से इस शब्द ही को देवता मान लेना चाहिए। अपने दर्शन के छठे अध्याय में—

"फलार्थत्वात् कर्म्मणः शास्त्रं सर्वाधिकारं स्यात्"

इस सूत्र से आरम्भ करके आपने देवता-विषयक बहुत सी बातें लिखी हैं। आपके कथन का सारांश यह है कि वैदिक देवताओं के न जीव है, न शरीर। यदि ये देवता शरीरी होते तो यज्ञ के समय आकर ज़रूर उपस्थित होते। सो तो होता नहीं। यदि यह कहें कि वे आते तो हैं, पर अपनी महिमा के बल से हम लोगों की आँखों से

अदृश्य रहते हैं तो भी ठीक नहीं। क्योंकि, इस दशा में, यदि दस जगह भिन्न-भिन्न यज्ञ होंगे तो एक शरीर को लेकर वे कहाँ-कहाँ जायँगे? अतएव मन्त्र ही को देवता मान लेना चाहिए। परन्तु इस विषय में और अधिक न लिखना ही अच्छा है।

वैदिक समय में पशु-हिंसा बहुत होती थी। यज्ञों में पशु बहुत मारे जाते थे। उनका मांस भी खाया जाता था। उस समय कई पशुओं का मांस खाद्य समझा जाता था। उनके नाम-निर्देश की आवश्यकता नहीं। इस विषय के उल्लेख जो वेदों में पाये जाते हैं उन्हें जाने दीजिए। महाभारत में चर्म्मण्वती नदी और रन्तिदेव राजा का जो वृत्तान्त है उसे ही पढ़ने से पुराने ज़माने की खाद्याखाद्य चीज़ों का पता लग जाता है। सोमरस का पान तो उस समय इतना होता था जिसका ठिकाना नहीं। पर लोगों को सोमपान की अपेक्षा हिंसा अधिक खलती थी। इसी वैदिकी हिंसा को दूर करने के लिए गौतम बुद्ध को "अहिंसा परमो-धर्म्मः" का उपदेश देना पड़ा।

सामवेद के मन्त्र प्रायः ऋग्वेद ही से लिये गये हैं। सिर्फ़ उनके स्वरों में भेद है। वे गाने के निमित्त अलग कर दिये गये हैं। सोमयज्ञ में उद्‌गाताओं के द्वारा गाने के लिए ही सामवेद को पृथक् करना पड़ा है। सामवेद भी यज्ञ से सम्बन्ध रखता है और यजुर्वेद भी। सामवेद का काम केवल सोमयज्ञ में पड़ता है। यजुर्वेद में सभी यज्ञों के विधान आदि हैं। साम की तरह यजुर्वेद भी ऋग्वेद से उद्‌धृत किया गया है; पर, हाँ, साम की तरह प्रायः बिलकुल ही ऋग्वेद से नक़ल नहीं किया गया। यजुर्वेद (वाजसनेयि-संहिता) का कोई एक-चतुर्थांश मन्त्र-भाग ऋग्वेद से लिया गया है। शेष यजुर्वेद ही के ऋषियों की रचना है। यजुर्वेद में गद्य भी है, साम में नहीं। क्योंकि वह गाने की चीज़ है। यजुर्वेद के समय में ऋग्वेद के समय की जैसी मनोहारिणी वाक्य-रचना

कम हो गई थी। उस समय स्तुति-प्रार्थना की तरफ़ ऋषियों का ध्यान कम था। यज्ञ-सम्बन्धी सूक्ष्म से सूक्ष्म नियम बनाकर उसीके द्वारा अपने सौख्य-साधन की तरफ़ उनका ध्यान अधिक था। इसी से ज़रा-ज़रा सी बातों के लिए भी उन्हें विधि-विधान बनाने पड़े थे। लौकिक और पारलौकिक सुख-प्राप्ति की कुंजी यज्ञ ही समझा गया था।

[सितम्बर १९०८

२—प्राकृत भाषा

प्राकृत का अर्थ स्वाभाविक है। जो सर्वसाधारण जनों की भाषा हो उसीका नाम प्राकृत भाषा है। अथवा जो प्रकृति से उत्पन्न हो—जिसे मनुष्य प्राकृतिक कारणों से आप ही आप बोलने लगा हो—वही प्राकृत है। इस हिसाब से प्रत्येक देश और प्रत्येक काल की सार्वजनिक स्वाभाविक भाषा प्राकृत भाषा कही जा सकती है। परन्तु यहाँ पर हमारा अभिप्राय केवल उस भाषा से है जो कुछ विशेष शताब्दियों तक भारतवर्ष के जन-साधारण की भाषा थी और जो संस्कृत-ग्रन्थों में प्राकृत के नाम से प्रख्यात है। यह भाषा इस देश में कब से कब तक प्रचलित रही, इसका निश्चय ठीक-ठीक नहीं हो सकता, क्योंकि किसी भाषा की उत्पत्ति, विकास और लोप की निश्चित तिथि या निश्चित काल बता देना प्रायः असम्भव है। इसीलिए इसके विषय में बहुत मत-भेद है। कोई इसे बहुत पुरानी बताते हैं, कोई नहीं। किसी-किसी का मत है कि वैदिक काल में भी प्राकृत भाषा, किसी न किसी रूप में, विद्यमान थी। वह उस भाषा से पृथक् थी जो वेदों में पाई जाती है। परन्तु कुछ विद्वान् इस मत के क़ायल नहीं। उनकी राय है कि वैदिक समय में जन-साधारण की भी

वही भाषा थी जो वेदों में पाई जाती है। हाँ, शिक्षितों और अशिक्षितों की भाषा में कुछ न कुछ अन्तर ज़रूर रहता ही है। वैसा ही अन्तर उस समय भी बोलचाल की और वेदों की भाषा में यदि रहा हो तो रह सकता है।

कुछ समय पूर्व, बँगला-भाषा के प्रसिद्ध लेखक, बाबू विजयचन्द्र मजूमदार ने इस विषय में एक लेख लिखा था। उन्होंने उसमें, प्राकृत भाषा की उत्पत्ति और लोप के विषय में, कुछ सिद्धान्त स्थिर किये हैं। उनके वे सिद्धान्त प्रमाणों और युक्तियों का आधार लिये हुए हैं और विचार-योग्य हैं। अतएव उनका आशय आगे दिया जाता है।

जो भाषा वैदिक काल में प्रचलित थी उसका नाम देव-भाषा है; क्योंकि उसी भाषा में वैदिक ऋषि देवों का गुणगान करते थे। और जिस भाषा में देव-गुणगान किया जाय वह देव-भाषा कही जाने की ज़रूर ही अधिकारिणी है। परन्तु बौद्ध-काल में वही भाषा संस्कृत होकर शास्त्रों और पुराणों आदि की भाषा रह गई। उस पुरानी भाषा का संस्कार किया जाने ही से उसका नाम संस्कृत हो गया। उस समय, अर्थात् बौद्ध-काल में, लोक-व्यवहृत भाषा—बोलचाल की भाषा—उससे भिन्न हो गई थी। उस समय की यह भिन्न भाषा संसार में पाली के नाम से विख्यात है। अशोक की प्रायः सभी शिलालिपियाँ इसी भाषा में पाई जाती हैं। उनको देखने से मालूम होता है कि उस समय प्रायः सारे आर्य्यावर्त में वही भाषा अर्थात् पाली ही प्रचलित थी। सर्व-साधारण जन वही भाषा बोलते थे। अशोक के समय में पाली ने बड़ी उन्नति की थी। जैसे हिन्दुओं के शास्त्रों की भाषा संस्कृत थी वैसे ही बौद्धों के ग्रन्थों की भाषा पाली थी। बात यह थी कि सर्व-साधारण की समझ में आने के लिए बौद्ध-धर्म्म से सम्बन्ध रखनेवाले प्रायः सभी ग्रन्थ पाली ही भाषा में लिखे जाते थे। परन्तु बौद्ध-धर्म्म की अवनति के साथ ही साथ पाली भाषा को भी

अवनति होती गई। इधर हिन्दू-धर्म्म का प्रभाव बढ़ने से संस्कृत-भाषा का आदर अधिक होने लगा। इस परिवर्तन ने जन-साधारण की भाषा पर बहुत प्रभाव डाला। उनकी भाषा बदलने लगी। थोड़े ही दिनों में उसने एक नवीन रूप धारण किया। उसीका नाम प्राकृत भाषा है। यह घटना बहुत करके ईसा की चौथी शताब्दी में हुई।

बौद्ध-धर्म्म का ह्रास होने पर जिस नवीन युग का आविर्भाव हुआ उसमें गुप्त-वंश के नरेशों के हाथ में इस देश का आधिपत्य आया। उनके समय की भी कितनी ही लिपियाँ पुरातत्त्ववेत्ताओं ने खोज निकाली हैं। वे शिलाओं और ताम्रपत्रों पर खुदी हुई हैं। उनकी भाषा में संस्कृत और प्राकृत का मिश्रण है। उसके बाद की जितनी शिला-लिपियाँ और ताम्रपत्र मिले हैं उन सभी में प्राकृत ही भाषा का आधिक्य है। पर उसके पहले की किसी भी लिपि में प्राकृत का पता नहीं। भानुगुप्त नाम का राजा ५१० ईसवी में विद्यमान था। उसके भानजे ने प्राकृत भाषा में कविता की थी और प्राकृत भाषा के व्यवहार-सम्बन्ध में कुछ नियम भी बनाये थे। इससे सूचित होता है कि उस समय के पहले प्राकृत भाषा साहित्य में व्यवहृत होने योग्य न हुई थी।

छठी शताब्दी के नाटकों और जैन-ग्रन्थों में प्राकृत भाषा विकसित और नियमबद्ध रूप में पाई जाती है। एक दिन में कोई भी भाषा विकास को नहीं प्राप्त हो सकती। पाली भाषा के लोप होने और नवीन प्राकृत के बनने में सैकड़ों वर्ष लगे होंगे। इन कारणों से प्राकृत-भाषा की उत्पत्ति का समय यदि ईसा की चौथी शताब्दी का प्रारम्भ मान लिया जाय तो असङ्गति-दोष के लिए बहुत कम जगह रहेगी। छठी शताब्दी के पहले हिन्दुओं के ग्रन्थ-समुदाय में कहीं भी प्राकृत भाषा का व्यवहार नहीं देखा जाता। जैन-धर्म के अनुयायी प्रायः सदा ही देशी भाषा का व्यवहार, अपने ग्रन्थों में, करते रहे हैं; परन्तु छठी शताब्दी के पहले का उनका भी

कोई ग्रन्थ ऐसा नहीं मिला जिसमें प्राकृत भाषा का प्रयोग किया गया हो। इससे सूचित है कि छठी शताब्दी के पहले प्राकृत भाषा साहित्य में व्यवहृत होने योग्य न हुई थी। अतएव जो लोग इस भाषा को इससे अधिक प्राचीन बताते हैं उन्हें इन प्रमाणों और युक्तियों पर विचार करना चाहिए।

पाली भाषा, किसी समय, प्रायः समस्त आर्य्यावर्त के जन-साधारण की भाषा थी। परन्तु यह सौभाग्य बेचारी प्राकृत को नहीं प्राप्त हो सका। प्राकृत भाषा, एक ही रूप में, सारे देश की भाषा कभी नहीं हुई। भिन्न-भिन्न प्रान्तों में भिन्न-भिन्न प्रकार की प्राकृत व्यवहार में आती थी। इसका कारण शायद यह था कि अशोक के समय की तरह, पीछे से, सम्पूर्ण देश पर एक ही राजा की सत्ता न थी। देश में कितने ही स्वाधीन राज्यों की संस्थापना हो गई थी। उनका पारस्परिक सम्बन्ध बहुत कुछ टूट गया था। छठी शताब्दी में लिखे गये प्राकृत-प्रकाश नामक ग्रन्थ देखने से मालूम होता है कि उस समय आर्य्यदेश में चार प्रकार की प्राकृत भाषायें प्रचलित थीं। उनके नाम हैं—पञ्जाबी, उज्जैनी, मागधी और पैशाची। वररुचि, सुबन्धु और बाणभट्ट के ग्रन्थों से प्रकट होता है कि इनमें से प्रथम तीन भाषाओं में परस्पर अधिक भेद न था; पर उन तीनों से चौथी भाषा में अपेक्षाकृत अधिक भिन्नता थी। औरों की अपेक्षा पैशाची प्राकृत का सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना विशेष परिश्रम-साध्य था। बृहत्कथा नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ इसी पैशाची प्राकृत में रचा गया था। बाणभट्ट की कादम्बरी में एक जगह लिखा है कि राजकुमार जैसे अन्य विद्याओं में कुशल थे वैसे ही बृहत्कथा के पाठ में भी कुशल थे। अर्थात् अन्यान्य भाषाओं की तरह वे पैशाची भाषा भी जानते थे। इससे भी पैशाची भाषा के क्लिष्ट होने की सूचना, इशारे के तौर पर, मिलती है। यहाँ तक तो ग़नीमत थी। पर इसके कुछ दिनों बाद देश के

भिन्न-भिन्न भागों में भिन्न-भिन्न प्रकार की और भी कितनी ही भाषायें उत्पन्न हो गईं। पीछे से बने हुए अलङ्कारशास्त्र-विषयक ग्रन्थों में दरजनों प्राकृत भाषाओं के नाम आये हैं। उनमें से कुछ भाषायें यवनों और अनार्य जातियों की भी हैं।

प्राकृत भाषा यद्यपि स्वाभाविक भाषा थी, तथापि उसे भी संस्कृत के नमूने पर गढ़ने की चेष्टा की गई थी। इसी के फल-स्वरूप आदर्श शौरसेनी प्राकृत का जन्म हुआ था। छठी शताब्दी के पहले की प्राकृत के साथ पीछे की प्राकृत की तुलना करने से मालूम होता है कि वह दिन पर दिन संस्कृत से दूर होती जाती थी। कौन प्राकृत पहले की, और कौन पीछे की, यह बात जानने की अच्छी कसौटी इन दोनों की तुलना ही है। इस विषय के कुछ दृष्टान्त हम उस समय के नाटकों से नीचे देते हैं।

कविवर कालिदास ने जिस प्राकृत का व्यवहार किया है उसके प्रायः सभी शब्द मूल संस्कृत-शब्दों से मिलते-जुलते हैं। कालिदास के समय की प्राकृत संस्कृत से जितना नैकट्य रखती है, रत्नावली के समय की उतना नैकट्य नहीं रखती। हिन्दी में एक शब्द है "अपना"। उसकी उत्पत्ति संस्कृत भाषा के "आत्म" शब्द से है। कालिदास के समय में आत्मा और आत्मनः की जगह अत्ता और अत्तन देखा जाता है। पर रत्नावली में उनके स्थान में अप्पा और अप्पन आदि शब्द पाये जाते हैं। और भी पीछे के समय की प्राकृत में ऐसे अनेक शब्द मिलते हैं जिनका सम्बन्ध उनके समानार्थवाची संस्कृत शब्दों से बहुत ही कम है या बिलकुल ही नहीं है। मृच्छकटिक-नाटक में ऐसे शब्दों का विशेष आधिक्य है। यथा—छिनालियापुत्त (पुंश्चली-पुत्र), गोड (पा, पाय, पाद), मग्गिदुं (प्रार्थयितुं), फेल्दु (क्षिपतु) आदि अनेकानेक शब्द उदाहरणार्थ लिखे जा सकते हैं। जिस समय मुद्राराक्षस और वेणीसंहार की

रचना हुई थी उस समय, जान पड़ता है, प्राकृत लुप्त-सी हो गई थी या होती जा रही थी। क्योंकि इन दोनों ग्रन्थों में जो प्राकृत-शब्द आये हैं वे बोलचाल की भाषा के, अर्थात् स्वाभाविक, नहीं मालूम होते।

दशवीं शताब्दी में प्राकृत ने अपना पुराना रूप बदलते-बदलते एक नया ही रूप धारण किया। यही समय वर्तमान देशी भाषाओं का उत्पत्ति-काल कहा जा सकता है। प्रायः सभी प्राकृतों के क्रियापदों में लिङ्गभेद न था। पर मालूम नहीं क्यों और कहाँ से वह पीछे से कूद पड़ा।

मजूमदार बाबू के लेख का यही सारांश है। उस दिन "माडर्न रिव्यू" में मिस्टर के० पी० जायसवाल का एक लेख हमारे देखने में आया। उसमें बाबू हीरालाल की तैयार की हुई प्राचीन पुस्तकों की एक सूची के कुछ अंश की आलोचना थी। बाबू साहब ने अपनी सूची में जैनों की कुछ प्राचीन पुस्तकों से अवतरण दिये हैं। वे पुस्तकें प्राकृत में हैं। पर उनकी भाषा वर्तमान हिन्दी भाषा से मेल खाती है। उन नमूनों से जान पड़ता है कि उसी समय अथवा उसके सौ-पचास वर्ष आगे-पीछे उस हिन्दी ने जन्म लिया जो आज-कल हम लोगों की मातृ-भाषा है। वह समय ईसा की दसवीं ही शताब्दी के आस-पास अनुमान किया जा सकता है।

[जनवरी १९२८

३—संस्कृत-साहित्य का महत्त्व

भारत में अँगरेज़ी राज्य स्थापित होने के बाद भारतवासियों को अँगरेज़ी शिक्षा दी जाने लगी। उसके द्वारा भारतवासी अँगरेज़ी-साहित्य और विज्ञान आदि के मधुर और नवीन रसों का आस्वादन करने लगे। पहले पहल तो अँगरेज़ी की चमक-दमक में वे इतने भूल गये और उसके द्वारा मिलनेवाले उन रसों में वे इतने लीन हो गये कि अपने घर की सभी बातें उनको निस्सार और त्याज्य जान पड़ने लगीं। विशेष कर बूढ़ी संस्कृत के साहित्य के विषय में तो उनके विचार इतने कलुषित हो गये, जिसका कुछ ठिकाना ही नहीं। वे उसको अत्यन्त हेय दृष्टि से देखने लगे। नवविवाहिता वधू के लावण्य और हाव-भाव में भूलकर साधारण बुद्धिवाला युवक अपनी बूढ़ी माँ का अनादर करने लगता है। वह उसे अपने सुख में काँटा समझने लग जाता है। प्रायः ऐसी ही दशा उस समय के नव-शिक्षित समाज की हो चली थी। यहाँ तक कि एक नामी भारतीय विद्वान् ने, कोई पचास-साठ वर्ष पहले, बड़े ज़ोर के साथ कह डाला था कि संस्कृत की शिक्षा से मनुष्य की आँखें मुँद जाती हैं। पर अँगरेज़ी शिक्षा उन्हें खोल देती है। इस दशा में यदि यूरोप के विद्वानों को संस्कृत-साहित्य के सम्बन्ध में भ्रम हो जाय तो आश्चर्य ही क्या ? समय-समय पर इस प्रकार के कितने ही विलक्षण और निर्मूल आक्षेप संस्कृत पर किये गये हैं। हर्ष का विषय है, ऐसे आक्षेपों का मुँह-तोड़ उत्तर महामहोपाध्याय डाक्टर हरप्रसाद शास्त्री जैसे विद्वानों के

द्वारा दिया गया है। शास्त्रीजी नामी विद्वान् और पुरातत्त्वज्ञ हैं। आप संस्कृत-साहित्य के पारदर्शी पण्डित हैं। संस्कृत-कालेज (कलकत्ता) के प्रधानाध्यापक रह चुके हैं। अब आप पेन्शन पाते हैं। काशी के हिन्दू-विश्वविद्यालय के शिलारोपण-सम्बन्धी महोत्सव के समय, आपका भी एक व्याख्यान हुआ। उस व्याख्यान का मतलब सुनिए—

आरम्भ में शास्त्रीजी ने पूर्वोक्त विद्वान् के भ्रमपूर्ण वाक्य का उल्लेख किया। फिर कहा कि जिन दिनों की यह बात है उन दिनों संस्कृत-साहित्य से पढ़े-लिखे लोगों का बहुत ही थोड़ा परिचय था। वे न जानते थे कि संस्कृत-साहित्य कितने महत्त्व का है। उस में भिन्न-भिन्न विषयों पर कितने ग्रन्थ अब भी विद्यमान हैं। उस समय अँगरेज़ी पाठशालाओं में संस्कृत की शिक्षा बहुत ही थोड़ी दी जाती थी। अँगरेज़ी ही का दौरदौरा था। इस कारण कुछ नव-शिक्षित लोग यह ख़याल कर बैठे थे कि अँगरेज़ी शिक्षा की बदौलत ही ज्ञान-सम्पादन हो सकता है। संस्कृत में धरा ही क्या है? व्याकरण रटते-रटते और कोश कण्ठ करते-करते जीवन व्यतीत हो जाता है; बाहरी व्यावहारिक ज्ञान ज़रा भी नहीं होता। अँगरेज़ी शिक्षा को देखिए। आठ ही दस वर्षों में विद्यार्थी केवल अँगरेज़ी भाषा में प्रवीणता नहीं प्राप्त कर लेता; किन्तु वह अनेक शास्त्रों के रहस्यों को भी जान जाता है; वह गणित-इतिहास-विज्ञान-सम्बन्धिनी अनेक अनोखी बातों से भी अवगत हो जाता है। संस्कृत-साहित्य से इतने ज्ञान-सम्पादन की आशा नहीं की जा सकती।

पर, खुशी की बात है कि अब वह ज़माना नहीं रहा। गत साठ ही वर्षों में ज़मीन-आसमान का फ़र्क़ हो गया है। सन् १८७६ की एक बात मुझे याद आ गई। बङ्गाल के तत्कालीन छोटे लाट, सर रिचर्ड टेम्पल, ने एक बार कहा था—

"The education of a Hindu gentleman can never be said to be complete without a thorough mastery of Sanskrit language and literature."

अर्थात् संस्कृत-भाषा और संस्कृत-साहित्य का पूरा ज्ञान प्राप्त किये विना किसी भी हिन्दू की शिक्षा पूरी नहीं होती। उसे अधूरी ही समझना चाहिए।

उस समय संस्कृत के हस्त-लिखित ग्रन्थों और शिला-लेखों की खोज का काम आरम्भ ही हुआ था। इन गत पचास-साठ वर्षों की खोज से संस्कृत-साहित्य-सम्बन्धिनी मार्के की बातों का पता चल गया है। अब कोई यह नहीं कह सकता कि संस्कृत-साहित्य में धर्म-ग्रन्थों के सिवा और है क्या ? अब तो यूरोप और अमेरिका तक के विद्वान् यह मानने लगे हैं कि संस्कृत में सैकड़ों व्यवहारोपयोगी ग्रन्थ भी हैं। खोज अब तक जारी है। कोई तीस वर्षों से मैं इस खोज का काम कर रहा हूँ। पर इतने ही से मैं दावे के साथ कह सकता हूँ कि संस्कृत-साहित्य भारत की प्राचीनता के भिन्न-भिन्न स्वरूपों का प्रतिबिम्ब है। उसके अध्ययन से यह ज्ञान हो सकता है कि प्राचीन भारत-निवासी विद्या में कितने बढ़े-चढ़े थे, जीवनोपयोगिनी कितनी आवश्यक सामग्री उनके पास थी—कितनी बातें उन्हें मालूम थीं। अहा ! सर रिचर्ड टेम्पल यदि इस समय जीवित होते तो वे अपने वाक्य से ज़रूर 'हिन्दू' शब्द निकाल देते। क्योंकि अब संस्कृत-साहित्य का महत्त्व इतनी दृढ़ता से सिद्ध किया जा चुका है कि उसका पूर्ण अध्ययन किये बिना किसी भी मनुष्य की शिक्षा पूर्ण नहीं कही जा सकती। यदि मेरे वे पूर्वोक्त भारतीय मित्र आज विद्यमान होते तो देख लेते कि संस्कृत-साहित्य भी अँगरेज़ी ही के सदृश मनुष्य की आँखें खोल सकता है। इस समय उन्हें अपनी पहली सम्मति पश्चात्ताप-पूर्वक वापस लेनी पड़ती।

अँगरेज़ी के सिवा यूरोप की अन्य भाषाओं का साहित्य शृङ्खला-बद्ध नहीं। कहीं-कहीं उसका सिलसिला टूट गया है। पर अँगरेज़ी-साहित्य इँगलेंड के आदिकवि चासर से लेकर आज तक—५०० वर्षों तक—रत्ती भर भी विश्रृङ्खल नहीं। इसीसे टेन नाम का एक फ़्रांस-निवासी लेखक अँगरेज़ी-साहित्य पर लट्टू हो गया है। सिर्फ़ ५०० वर्षों की अखण्डित शृङ्खला पर टेन महाशय इतना आश्चर्य करते हैं। यदि वे यह जानते कि संस्कृत-साहित्य का सिलसिला उससे कई गुने अधिक समय से बराबर चला आ रहा है तो न मालूम उनके आश्चर्य का पारा कितनी डिग्री चढ़ जाता। सुनिए, हमारा संस्कृत-साहित्य ईसा के कोई १५०० वर्ष पहले से, आज तक शृङ्खला-बद्ध चला आ रहा है। अर्थात् संस्कृत-साहित्य, अँगरेज़ी-साहित्य की अपेक्षा सात गुने समय से शृङ्खला-बद्ध है। हाँ, अध्यापक मैक्समूलर अलबत्ता कहते हैं कि कोई सात सौ वर्षों तक संस्कृत-साहित्य सूना दिखाई देता है; उसकी शृङ्खला टूटी हुई दृष्टि पड़ती है। ईसा के पहले चौथी सदी से ईसा की चौथी सदी तक—बौद्ध-धर्म के उदयकाल से गुप्त राजों के उदयकाल तक—वे उसे खण्डित कहते हैं। इन सात शतकों में लिखे गये जितने शिलालेख पाये गये हैं वे ऐसी भाषा में हैं जिसे प्राकृत के रूप में संस्कृत कह सकते हैं। वे चौथी सदी के बाद से संस्कृत का पुनरुज्जीवन मानते हैं।

परन्तु भाषा-सम्बन्धी परिवर्त्तन के कारण ही अध्यापक मैक्समूलर को यह भ्रम हुआ है। उनकी इस सम्मति का आदर विद्वानों ने नहीं किया। क्योंकि पूर्वोक्त अवधि में लिखे गये कितने ही ग्रन्थ प्राप्त हुए हैं। ईसा के पहले दूसरी सदी में—पुष्यमित्र के राजत्वकाल में—पतञ्जलि ने अपना महाभाष्य लिखा। चन्द्रगुप्त मौर्य सिकन्दर का सम-कालीन था। उसी चन्द्रगुप्त के मन्त्री, कौटिल्य (चाणक्य) ने अर्थ-शास्त्र की रचना की। प्रसिद्ध नाटककार भास की ख्याति कालिदास से

कम नहीं। इसी भास के नाटकों के अवतरण कौटिल्य के ग्रन्थ में पाये जाते हैं। इससे सिद्ध है कि कौटिल्य के पहले भास ने अपने ग्रन्थों की रचना की थी। कोहल, शाण्डिल्य, धूर्तिल और वात्स्य ने नाट्य-शास्त्र पर बड़े-बड़े ग्रन्थ लिखे। वे सब ईसा के पहले दूसरी सदी ही में हो गये। महाराज कनिष्क के गुरु अश्वघोष, बौद्ध-धर्मीय महायान सम्प्रदाय के संस्थापक नागार्जुन, नागार्जुन के शिष्य आर्यदेव और मैत्रेयनाथ आदि ने ईसा की पहली से लेकर तीसरी सदी तक अपने ग्रन्थों की रचना की।

देखिए, संस्कृत-ग्रन्थों की रचना बराबर होती चली आई है। इन सदियों में भारत की राजनैतिक, धार्म्मिक, सामाजिक, साम्पत्तिक तथा शिक्षा-विषयक स्थितियों में बहुत कुछ उथल-पुथल हुआ। तिस पर भी संस्कृत-साहित्य की श्रृङ्खला न टूटी। इस दृष्टि से संस्कृत-साहित्य का यह अटूट क्रम और भी आश्चर्यकारक है। वह कभी टूटा ही नहीं। कभी एक प्रान्त में तो कभी दूसरे प्रान्त में, कहीं न कहीं, कोई न कोई ग्रन्थ लिखा ही गया। उत्तरी भारत में अफ़ग़ानियों ने जो उत्पात तेरहवीं सदी में मचाया था वह दुनिया में अपना सानी नहीं रखता। पर उस समय भी गुजरात और मालवे में जैनियों ने साहित्य की वृद्धि की। भारत के पश्चिमी प्रान्तों में माधवाचार्य ने तथा दक्षिणी प्रान्तों और मिथिला में रामानुज के शिष्यों ने भी संस्कृत-साहित्य के कलेवर को बढ़ाया। चौदहवीं सदी में सारा भारत मुग़लों और पठानों के आक्रमणों से उच्छिन्न हो रहा था। तिस पर भी कर्णाटक देश में मध्वाचार्य, द्रविड़ में वेदान्त-देशिक, मिथिला में चण्डेश्वर और उत्कल (उड़ीसा) में तो कितने ही लेखकों ने ग्रन्थ लिख-लिख कर साहित्य को पुष्ट किया।

इतना बड़ा और इतना अखण्डित ग्रन्थ-संग्रह क्या हमारे लिए उपयोगी नहीं ? ज़रूर है। उससे हमारी कल्पना-शक्ति पुष्ट होती है,

विचार करने के लिए हमें वह साधन-सामग्री देती है। उसे देखकर हमें अपने प्राचीन गौरव का अभिमान होने लगता है। उससे हम जान सकते हैं कि हमारा अस्तित्व कितना प्राचीन है। संस्कृत की वर्णमाला-रचना बड़ी विचित्र है। उसके उच्चारण की शैली अपूर्व है। उसका भाषा-सौन्दर्य भी बहुत अधिक है। संस्कृत-साहित्य के अवलोकन से हम यह जान सकते हैं कि बोल-चाल की भाषायें किस प्रकार बदलती रहती हैं और साहित्य की भाषा किस प्रकार अचल रहती है—उसका रूप जैसे का तैसा बना रहता है। संस्कृत-साहित्य के अध्ययन से हमको प्राचीन इतिहास का ज्ञान होता है। वह हमें बताता है कि किस प्रकार प्राचीन आर्य, धीरे-धीरे, अपनी मानसिक उन्नति करते गये; किस प्रकार वे क्रम-क्रम से एक से एक उत्तम तत्वों की खोज करते गये; किस प्रकार हाथियों की पूजा करनेवाले प्राचीन आर्य, सृष्टि की उत्पत्ति पर भी विचार करके अखण्डनीय सिद्धान्तों का ज्ञान भी प्राप्त कर सके।

संस्कृत-साहित्य का विस्तार बहुत है। वह पुष्ट भी ख़ूब है। अर्थात् उसमें ग्रन्थों की संख्या भी बहुत है और वे ग्रन्थ भी महत्त्व-पूर्ण और उपयोगी विषयों पर लिखे गये हैं। पाली, मागधी, शौरसेनी आदि प्राचीन तथा वर्तमान देशी-भाषाओं के साहित्य को छोड़ दें, तो भी उसका महत्त्व कम नहीं होता। लैटिन और ग्रीक—इन दोनों भाषाओं का साहित्य मिलकर भी संस्कृत-साहित्य की बराबरी नहीं कर सकता। १८९१ ईसवी तक कोई चालीस हज़ार संस्कृत ग्रन्थों की नामावली तैयार हो सकी थी। कितने ही ग्रन्थ तो उसमें शामिल ही नहीं हुए। भारत के प्रत्येक कोने में संस्कृत के ऐसे बीसियों प्राचीन ग्रन्थों के नाम सुनाई पड़ते हैं, जो अब उपलब्ध नहीं। यही नहीं, एशिया के दूर स्थानों में भी ऐसे ही अनेक नाम सुने जाते हैं। गोबी नाम के रेगिस्तान में गड़ी हुई संस्कृत-साहित्य-सम्बन्धिनी बहुत सी सामग्री मिली है।

चीन, जापान, कोरिया, तिब्बत और मङ्गोलिया में भी संस्कृत-ग्रन्थ पाये गये हैं। बौद्धों में पुण्डरीक नाम का एक बड़ा भारी विद्वान् हो गया है। उसे बौद्ध लोग अवलोकितेश्वर का अवतार मानते हैं। उसके एक ग्रन्थ से पता चलता है कि रोम, नील-नदी का प्रान्त, फ़ारिस आदि देश भी संस्कृत-साहित्य के ऋणी हैं। मैडेगास्कर से फारमोसा टापू तक ही नहीं, उससे भी दूर-दूर तक प्रचलित सैकड़ों भाषाओं और बोलियों का मूलाधार संस्कृत ही है।

यह तो संस्कृत-साहित्य के विस्तार की बात हुई। इतने से आपको उसके फैलाव की कुछ कल्पना-मात्र हो सकती है। पर उसकी निश्चित सीमा कोई नहीं बता सकता। जो संस्कृत-साहित्य आज उपलब्ध है वह बहुत प्राचीन नहीं। वह तो नई चीज़ है—किसी शास्त्र-विशेष या कला-विशेष से सम्बन्ध रखने वाली नवीन खोज का फल है। प्राचीन ग्रन्थ तो भूत-कालरूपी महा समुद्र में लुप्त हो गये। देखिए, पाणिनि अपने ग्रन्थ में लिखते हैं कि उनके पूर्ववर्ती संस्कृत-व्याकरण के १५ शाखा-भेद थे। कौटिल्य के अर्थ-शास्त्र में तत्पूर्ववर्ती अर्थशास्त्र के १० भेदों का उल्लेख है। कोहल के नाट्य-शास्त्र से भी पता चल सकता है कि इस शास्त्र के भी बहुत से शाखा-भेद थे। प्रत्येक शाखा-भेद के सूत्र, भाष्य, वार्त्तिक और निरुक्त आदि अलग अलग थे। वात्स्यायन के काम-सूत्र में भी ऐसे ही उल्लेख पाये जाते हैं। उसमें काम-शास्त्र के पूर्व-रचयिताओं का उल्लेख तो है ही, पर, उस शास्त्र के सातों अधिकरणों के पूर्ववर्ती आचार्यों का भी उल्लेख है। संस्कृत के किसी भी श्रौत या गृह्य-सूत्र-ग्रन्थ को ले लीजिए। आपको कितने ही लेखकों और ग्रन्थों के नाम उसमें मिलेंगे। दर्शन, अलङ्कार, व्याकरण और छन्दःशास्त्र का भी यही हाल है।

अतएव यही कहना पड़ता है कि संस्कृत-साहित्य बहुत विस्तृत है; वह खूब पुष्ट है; वह बहुत प्राचीन है। उसके भीतर भरी हुई सामग्री में

ग़ज़ब की आकर्षण-शक्ति है। उसके अध्ययन से मनुष्य बहुत बातें—बहुत उपयोगिनी बातें—सीख सकता है।

लोग कहते हैं कि संस्कृत जाननेवाले इतिहास के प्रेमी नहीं। उन्होंने कोई इतिहास नहीं लिखा। पर मैं कहता हूँ कि इतिहास से हम जो कुछ सीख सकते हैं उससे कहीं अधिक संस्कृत-साहित्य से सीख सकते हैं। पूर्ववालों ने तो उससे बहुत कुछ सीखा भी है। अब पश्चिमवाले भी उसका आदर करने लगे हैं। वे उसका अध्ययन करते हैं और उसकी शिक्षणीय बातों से अपने साहित्य को पुष्ट करते हैं। संस्कृत-साहित्य से हमें यह शिक्षा मिलती है कि ख़ून-ख़राबी और मार-काट के बिना भी मनुष्य किस प्रकार विजय-प्राप्ति कर सकता है। क्या हम इसे शिक्षा नहीं कह सकते? मैं तो कहता हूँ कि साहित्य इससे बढ़कर और क्या शिक्षा दे सकता है?

योरप के निवासी, और कुछ भारत-निवासी विद्वान् भी, समझते हैं कि संस्कृत-साहित्य केवल ब्राह्मणों का धर्म-साहित्य है। ब्राह्मणों के उपयोगी धर्म-ग्रन्थों के सिवा उसमें और कुछ नहीं। पर उन लोगों का यह ख़याल ग़लत है। संस्कृत-साहित्य में केवल ब्राह्मणों के धर्म-ग्रन्थ ही नहीं हैं, जैनों और बौद्धों के धर्म-ग्रन्थ भी हैं। समस्त दक्षिणी और पूर्वी एशिया के धार्मिक जीवन पर संस्कृत-साहित्य का बहुत कुछ प्रभाव पड़ा है और पड़ता भी रहेगा।

धार्मिक साहित्य की बात जाने दीजिए। उसका प्रभाव तो प्रत्यक्ष ही दिखाई दे रहा है। सांसारिक साहित्य को लीजिए। इसीके लिए बेचारे संस्कृत-साहित्य को लोग बदनाम कर रहे हैं। लोग संस्कृत-साहित्य के यथार्थ महत्त्व को नहीं जानते। सम्पत्ति-शास्त्र, विज्ञान, कला-कौशल, इतिहास, तत्वज्ञान, काव्य और नाटक आदि ही सांसारिक व्यवहारोपयोगी साहित्य के विभाग हो सकते हैं। अतएव अब मैं हर विषय पर विचार करके विपरीत-मतवादियों का भ्रम दूर करने की चेष्टा करता हूँ।

अर्थ-शास्त्र

सब से पहले मैं अर्थ-शास्त्र ही को लेता हूँ। क्योंकि कितने ही लोग कहते हैं कि यह शास्त्र आधुनिक है। योरप के निवासी इसके जन्मदाता कहे जाते हैं। कोई दो ही सदियों में उन्होंने इसमें आश्चर्य-जनक उन्नति कर दिखाई है।

भारत में शास्त्रों के मुख्य चार विभाग किये गये हैं। (१) धर्म, (२) अर्थ, (३) काम और (४) मोक्ष। इनमें पहले तीन का सम्बन्ध सांसारिक बातों से है और अन्तिम का धार्मिक बातों से। पहले तीन में से सम्पत्ति-शास्त्र का सम्बन्ध सांसारिक बातों से बहुत अधिक है। संस्कृत-साहित्य में इस विषय पर बहुत बड़ा ग्रन्थ विद्यमान है। वह है कौटिल्य का अर्थशास्त्र। ईसा के पहले चौथी सदी में कौटिल्य ने उसकी रचना की। उसमें उसने अपने पूर्ववर्ती सम्पत्ति-शास्त्र के १० शाखा-भेदों का उल्लेख किया है। इसी एक बात से यह ज्ञात हो सकता है कि इतने प्राचीन समय में भी भारत-निवासी अच्छे राजनीतिज्ञ और सम्पत्ति-शास्त्र के अच्छे ज्ञाता थे। कौटिल्य ने अपने सम्पत्ति-शास्त्र में (१) राजनैतिक सम्पत्तिशास्त्र, (२) राजनैतिक तत्त्वज्ञान, (३) साधारण राजनीति, (४) युद्ध-कला, (५) सेना-सङ्गठन, (६) शासन-कला, (७) न्याय-शासन, (८) कोष (९) वाणिज्य-व्यवसाय और (१०) कल-कारख़ानों तथा खानों आदि के प्रबन्ध का विवेचन किया है। इसे थोड़े में यों कह सकते हैं कि राज्य-प्रबन्ध के लिए सभी आवश्यक विषयों का समावेश उसमें है। गृह-प्रबन्ध-विषयक सम्पत्तिशास्त्र पर भी वात्स्यायन ने अपने काम-सूत्र के चौथे भाग में बहुत कुछ लिखा है। उस भाग का नाम है—भार्याधिकरण। उसे देखते ही ज्ञात हो जाता है कि प्राचीन समय में हमारे यहाँ गृह-प्रबन्ध कैसे होता था। उसमें गृह-पत्नी की व्याख्या की गई है। चीज़ों की सँभाल किस तरह करनी चाहिए, नौकर-चाकरों के वेतन

आदि का प्रबन्ध कैसे करना चाहिए, रसोई की व्यवस्था किस ढंग से होनी चाहिए, घर के आस-पास बाग़-बग़ीचे किस तरह लगाने चाहिएँ, बीजों की रक्षा किस तरह करनी चाहिए, परिवार के लोगों से गृह-पत्नी को कैसा व्यवहार करना चाहिए—इन्हीं सब बातों का वर्णन उसमें है। कृषि और वृक्ष-रोपण का वर्णन भी वराहमिहिर ने अपनी बृहत्संहिता में किया है। हमारे स्मृति-ग्रन्थों में तो कितने ही ऐसे सङ्केत हैं जिनसे ज्ञात होता है कि इन विषयों पर और भी बड़े-बड़े ग्रन्थ विद्यमान थे। पालकाप्य का हस्त्यायुर्वेद और शालिहोत्र का अश्व-शास्त्र इस बात के प्रमाण हैं कि प्राचीन भारत-निवासी पशु-पालन और पशु-चिकित्सा में भी प्रवीण थे। इन ग्रन्थों से जाना जाता है कि प्राचीन ऋषियों ने कितनी चिन्ता और कितने परिश्रम से पशुओं के स्वभाव आदि का ज्ञान-सम्पादन किया था; उनके जनन और पालन के नियम बनाये थे; उनके रोगों तथा उनकी चिकित्सा का ज्ञान प्राप्त किया था। पाक-शास्त्र पर तो कितनी ही पुस्तकें हैं। पेड़ों और वनस्पतियों के फलों, जड़ों, छालों, पत्तों, डंठलों, फूलों और बीजों तक के गुण-धर्म का विवेचन उनमें मिलता है। भिन्न-भिन्न जन्तुओं के मांस के गुण-दोषों का भी उनमें वर्णन है।

शास्त्रीय विषय

शास्त्र का ज्ञान दो ही उपायों से प्राप्त किया जा सकता है। (१) निरीक्षण या (२) प्रयोग-द्वारा। कुछ लोगों का कहना है कि भारत-निवासियों ने शास्त्रीय विषयों पर कुछ विचार किया है सही, पर प्रयोग करना वे न जानते थे। यह निरा भ्रम है। देखिए, गणित-शास्त्र में निरीक्षण ही प्रधान है। निरीक्षण ही के बल पर उसकी सृष्टि हुई है। भारत-वासियों को प्राचीन समय की सब जातियों से अधिक गणित-शास्त्र का ज्ञान

था। अङ्क-गणित में दशमलव की रीति का आविष्कार उन्हींने किया। बीज-गणित में वर्ग-समीकरण को हल करने की रीति का अनुकरण पश्चिम-वालों ने भारतीयों ही से सीखा। हाँ, उसमें कुछ फेरफार उन्होंने ज़रूर कर लिया है। त्रिकोणमिति में आर्यों ने अच्छी उन्नति की थी। उनको अनेक प्रकार के कोणों का ज्ञान था। भारत में इस शास्त्र की उत्पत्ति नावों के कारण हुई। भारत-निवासियों को यज्ञ से बड़ा प्रेम था। इसी निमित्त उन्हें यज्ञ-वेदी बनानी पड़ती थी। वेदियाँ प्रायः पक्की ईंटों से बनाई जाती थीं। इसलिए उन्हें ईंटों और वेदी की भूमि को नापने की ज़रूरत पड़ती थी। इसी से उनको रेखा-गणित-सम्बन्धिनी भिन्न-भिन्न आकृतियों का ज्ञान हुआ। यज्ञों के लिए उन्हें समय-ज्ञान की भी ज़रूरत पड़ती थी। इससे जोतिप-शास्त्र का उदय हुआ। ग्रीक तथा अन्य विदेशी जातियों के सम्पर्क से उन्हें इस शास्त्र के अध्ययन में और भी सहायता मिली। धीरे-धीरे उन्होंने इस शास्त्र से सम्बन्ध रखने-वाली कितनी ही नई-नई बातें खोज निकालीं। उन्होंने पृथ्वी की दैनिक गति का पता लगाया। ज्योतिष-सम्बन्धी बड़े उपयोगी यन्त्रों का आवि-ष्कार भी उन्होंने किया।

यह तो निरीक्षण-प्रधान शास्त्रों की बात हुई। अब प्रयोग-प्रधान शास्त्रों को लीजिए। आर्यों के आयुर्वेद को देखिए; सब बात स्पष्ट समझ में आ जायगी। इस शास्त्र का ज्ञान केवल निरीक्षण से साध्य नहीं। इसके लिए बड़ी दूरदर्शिता के साथ प्रयोग करने की आव-श्यकता पड़ती है। आर्यों ने असंख्य जङ्गली जड़ी-बूटियों के गुण-दोषों का ज्ञान प्राप्त किया। इसके लिए उन्हें हिमालय जैसे अलङ्घ्य पर्वतों पर भी घूमना पड़ा। उन्होंने इस बात की गहरी खोज की कि किसी वनस्पति का कोई दोष किस अन्य वनस्पति के योग से दूर किया जा सकता है। इस निमित्त उन्होंने सैकड़ों वनस्पतियों के गुण-दोषों की

परीक्षा करके उनके योग से गोलियाँ, चूर्ण, घृत और तैल आदि तैयार करने की विधि निकाली। क्या यह सब बिना ही प्रयोग किये हो गया? ईसा के कोई एक हज़ार वर्ष पहले भी भारत-वासियों को मनुष्य के शरीर की हड्डियों का ज्ञान था। वे जानते थे कि शरीर में कितनी हड्डियाँ हैं, कौन हड्डी किस जगह है और उसका आकार कैसा है। जानवरों की नस-नस का ज्ञान भी उन्हें था। अर्थात् वे शारीर-शास्त्र के भी ज्ञाता थे। वे जर्राही में भी बड़े चतुर थे। अस्थियाँ काटने में जिन यन्त्रों का वे उपयोग करते थे उनको देखने ही से यह बात सिद्ध है। चिकित्सा-शास्त्र की सभी शाखाओं का ज्ञान उनको बहुत कुछ था। वे धातुओं और अन्य खनिज वस्तुओं का उपयोग भी जानते थे। उनसे वे अनेक प्रकार की ओषधियाँ तैयार करते थे। अर्थात् रसायन-शास्त्र में भी उनका काफ़ी दख़ल था। इस शास्त्र के प्रयोगों में प्राचीन भारत-वासियों ने कितनी उन्नति कर ली थी, इसका वर्णन डाक्टर प्रफुल्लचन्द्र राय ने अपने ग्रन्थ में बहुत अच्छा किया है। उनके बताये हुए पारे के भिन्न-भिन्न उपयोग तो बहुत ही प्रशंसनीय हैं। प्राचीन भारतवासी भौतिक-शास्त्र (Physics) में भी पीछे न थे। वैशेषिक-दर्शन और कारिकावलि अथवा शाखापरिच्छेद पढ़ते ही यह बात ध्यान में आ जाती है। उनमें अध्यात्म-विद्या का उतना विचार नहीं किया गया जितना पदार्थ-विज्ञान का। वैशेषिक-दर्शन का परमाणुवाद इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। हमारे पूर्वज पदार्थ-विज्ञान की उन कितनी ही शाखाओं पर विचार कर चुके थे, जिनमें इतने समय बाद योरोप ने अब कहीं विशेष उन्नति की है।

चन्द्रकीर्ति नाम के एक लेखक ने आर्यदेव के लिखे हुए चतुःशतिका नामक ग्रन्थ पर एक टीका लिखी है। आर्यदेव तीसरी सदी में और चन्द्रकीर्ति छठी सदी में हुए थे। उसमें दो कथायें हैं। उनको पढ़ने

से ज्ञात होता है कि प्राचीन काल में आर्यों ने यन्त्र-निर्माण में भी यथेष्ट प्रवीणता प्राप्त कर ली थी।

कला-कौशल

हमारे यहाँ चौंसठ कलायें मानी जाती हैं। चौंसठ कलाओं की कई नामावलियाँ मेरे देखने में आई हैं। पाञ्चालिकी एक नामावली है। एक और का नाम है मूल-कला। वस्तु-कला, द्यूत-कला, शयन-कला आदि, इसके कितने ही भाग हैं। एक नामावली और भी है। उसका नाम है औपायिकी-कला। उसका टीकाकार कहता है कि कुल कलायें ५१८ हैं। खेद है, उनके नाम उसने नहीं गिनाये। मैं समझता हूँ, सभी औपायिकी-कलाओं पर पुस्तकें लिखी गई होंगी। कितनी ही औपायिकी-कलाओं पर पुस्तकें मिलती भी हैं। उन्हें सब लोग जानते हैं। सङ्गीत ही का उदाहरण लीजिए। उस पर कितनी ही पुस्तकें हैं। बङ्गाल-निवासी भुवनानन्द कविकण्ठाभरण ने हिन्दुओं के अठारहों शास्त्रों पर टीकायें लिखी हैं। वे शेरशाह के समकालीन थे। उन्होंने सङ्गीत-विद्या पर भी एक पुस्तक लिखी है। उसमें उन्होंने सङ्गीत-शास्त्र पर पुस्तक-रचना करनेवाले कितने ही प्राचीन लेखकों के नाम दिये हैं। कोहल ने अपने नाट्य-शास्त्र में अकेले नृत्य पर कितने ही अध्याय लिख डाले हैं। उनमें करण, अङ्गहार, नर्त्य आदि का विवेचन किया गया है। दशरूपक नामक ग्रन्थ में भी नर्त्य और नृत्य का भेद दिखाया गया है। कोहल ने, मेरे ख़याल से, नाट्य-शास्त्र की रचना दूसरी शताब्दी में की। उसने नाट्य-शास्त्र के सभी अङ्गों और उपाङ्गों का सविस्तर विवेचन किया है।

हाँ, चित्रकला पर अभी तक कोई पुस्तक नहीं मिली। पर ईसा के पूर्व दूसरी सदी की चित्रकारी के नमूने अलबत्ते मिले हैं। छठी से

दसवीं सदी की चित्रकारी तो बहुत ही उत्तम मिलती है—कहीं गुफाओं के भीतर मन्दिरों में, कहीं दीवारों पर, कहीं ताड़ के पत्तों पर लिखी हुई पुस्तकों पर। यहाँ की सङ्गतराशी के काम की तो सारी दुनिया तारीफ़ करती है। उसके तो बौद्ध-कालीन नमूने तक मिलते हैं। इनके सिवा प्राचीन भारत-निवासियों को और भी छोटी-मोटी अनेक कलायें ज्ञात थीं।

इतिहास

कितने ही पुराणों में बड़े-बड़े राज-वंशों का विवरण है। प्राचीन लिपियों के संग्रह से भारत के प्राचीन इतिहासज्ञान की प्राप्ति में ख़ूब सहायता मिल रही है। सातवीं सदी से हमारे यहाँ लिखे हुए इतिहास मिलते हैं। उनमें सब से पहला हर्षवर्द्धन का इतिहास है। तब से भिन्न-भिन्न रूपों में इतिहास का लिखना बराबर जारी रहा। नव-साहसाङ्क-चरित, विक्रमाङ्कदेव-चरित, द्व्याश्रय, राम-चरित, पृथ्वीराज-चरित और राजतरङ्गिणी आदि देखने से यह बात समझ में आ सकती है कि किस प्रकार भिन्न-भिन्न ढँग पर इतिहास लिखे गये हैं। खोज करने से इस विषय में और भी अधिक बातें मालूम हो सकती हैं। कोई तीन सौ वर्ष पहले, पण्डित जगमोहन नाम के एक लेखक ने एक इतिहास-संग्रह किया था। उसमें लेखक ने कई पूर्ववर्ती संग्रह-कर्ताओं के नाम दिये हैं। एक ऐसा ग्रन्थ मिला भी है। वह है भविष्यपुराणान्तर्गत ब्राह्म-खण्ड। उसे देखने से इतिहास और भूगोल-सम्बन्धिनी अनेक बातें ज्ञात होती हैं। अतएव कहना पड़ता है, संस्कृत-साहित्य में इतिहास का अभाव है, यह आक्षेप निराधार है।

तत्व-ज्ञान

भारतीय तत्व-ज्ञान छः भागों में बँटा हुआ है। पर इस विषय में भिन्न-भिन्न आचार्यों के भिन्न-भिन्न मत हैं। वे एक दूसरे से नहीं मिलते।

ख़ैर। ये दर्शन कहाते हैं। सभी दर्शनों में अध्यात्म-विद्या ही का वर्णन नहीं। वैशेषिक-दर्शन में पदार्थ-विज्ञान के सिद्धान्त भरे पड़े हैं। न्याय में तर्क-शास्त्र का विवेचन किया गया है। मीमांसा में धर्म-कर्म-सम्बन्धिनी प्राचीन पद्धतियों की व्याख्या है। योग-दर्शन में अन्तर्निहित शक्तियों के उद्बोधन का वर्णन है। हाँ, शङ्कर और बौद्ध-धर्मीय महायान-सम्प्रदाय के लेखकों ने अध्यात्म-विद्या अर्थात् वेदान्त का ख़ूब विवेचन किया है। महायान-सम्प्रदाय के अनुयायियों ने नीति-शास्त्र—नैतिक तत्व-ज्ञान—के भी तत्वों का गहरा विचार किया है।

काव्य और नाटक

प्रत्येक मनुष्य-जाति में काव्य, थोड़ा बहुत, अवश्य पाया जाता है। क्योंकि जीवन-कलह से त्रस्त मनुष्य के मन को शान्ति देने में उससे बड़ी सहायता मिलती है। एक देश या जाति-विशेष का काव्य-साहित्य दूसरे देश या जाति-विशेष के काव्य-साहित्य से नहीं मिलता। किसी भी जाति में साहित्य का यह अङ्ग उतनी उन्नति को नहीं पहुँच पाया जितनी उन्नति को वह भारतवर्ष में पहुँचा है। किसी में एक बात की कमी है, तो किसी में दूसरी बात की। किसी में सङ्गीत का अभाव है, किसी में नाटक का, किसी में पद्य का। पर प्राचीन भारत के काव्य-साहित्य में किसी बात का अभाव नहीं। गद्य-काव्य, पद्य-काव्य, चित्र-काव्य; उसी तरह दृश्य-काव्य और श्रव्य-काव्य; कहाँ तक गिनावें प्रत्येक प्रकार का काव्य मौजूद है और प्रत्येक बात काव्य से भरी हुई है। रामायण, महाभारत और रघुवंश पौराणिक काव्य के उत्तम नमूने हैं।

नाटक, अलङ्कार, चम्पू तथा अन्य छोटे-मोटे काव्य-ग्रन्थों की तो बात ही जाने दीजिए। जगत्प्रसिद्ध कालिदास का रघुवंश तो दुनिया में अपना सानी नहीं रखता। पुराणों में प्रायः एक, दो अथवा इससे भी

अधिक मुख्य पात्रों का वर्णन रहता है। पुराण के आरम्भ से अन्त तक उनका कार्य-कलाप दिखलाया जाता है। रघुवंश में एक विशेषता है। वह यह कि उसके मुख्य पात्र बीच ही में लुप्त होते जाते हैं। फिर भी उनका उद्देश, उनका कार्य और उनकी नीति की एकता ज्यों की त्यों बनी रहती है। उनकी श्रृङ्खला खण्डित नहीं होती। यह विशेषता, यह चमत्कार, रघुवंश के सिवा और कहीं न पाइएगा।

अन्यान्य-विषय

जो साहित्य किसी मनुष्य-जाति के सम्पूर्ण कार्य्यों और जीवन को प्रतिबिम्बित करता है वही पूर्ण और प्रभावशाली कहा जाता है। अर्थात् जिस साहित्य के अवलोकन से यह जाना जा सके कि अमुक जाति के कार्यों की दिशा और उसकी सभ्यता अमुक प्रकार की है और उसके जीवन में अमुक विशेषतायें हैं, वही साहित्य श्रेष्ठ है। यदि यह सिद्धान्त सच हो तो संस्कृत-साहित्य ही ऐसा साहित्य है जिस पर यह लक्षण घटित होता है। अपने प्राचीन समय की याद कीजिए। उस समय न काग़ज़ ही मिलते थे, न छापने की कला ही का उदय हुआ था। पर हमारा संस्कृत-साहित्य तब भी पूर्णावस्था को पहुँच गया था। और शास्त्रों की बात का तो कहना ही क्या है, संस्कृत-साहित्य में चौरशास्त्र तक विद्यमान है। भास और शूद्रक ने अपने ग्रन्थों में उसका उल्लेख किया है। चौरशास्त्र पर एक स्वतन्त्र ग्रन्थ भी मिला है। उसका लेखक भी चोर ही था। उसमें उसने चौर-कर्म का अच्छा वर्णन किया है। यह ग्रन्थ ताड़-पत्र पर लिखा हुआ है। इसी तरह बाज़ पक्षी आदि पालने पर भी एक पुस्तक मिली है। इन पक्षियों की भिन्न-भिन्न जातियों, उनके पालन-पोषण के नियमों, तथा उनके उपयोगों का उसमें वर्णन है।

इस विवेचना से सिद्ध है कि संस्कृत-साहित्य कितने ही आश्चर्यों से भरा हुआ है। उसके विस्तार, उसकी प्राचीनता, उसकी पुष्टि बहुत ही कुतूहल-जनक है। ऐसे साहित्य का अध्ययन करनेवालों के मन पर क्या कुछ भी असर नहीं पड़ सकता? जरूर पड़ सकता है। वह अध्ययन-कर्त्ता के शील-स्वभाव को एकदम बदल सकता है। बुद्धि-सम्बन्धिनी शिक्षा प्राप्त करने में इस साहित्य के अध्ययन से बढ़कर अन्य साधन नहीं। खेद है, ऐसे उपयोगी, ऐसे परिपूर्ण, ऐसे प्रभावशाली साहित्य का बहुत ही कम सम्मान आज तक लोगों ने किया है। पर, अब, हम इसकी महत्ता समझने लगे हैं। इससे बहुत कुछ सन्तोष होता है।

[अप्रैल १९१६

४—सर विलियम जोन्स ने कैसे संस्कृत सीखी

सर विलियम जोन्स संस्कृत के बहुत प्रसिद्ध पण्डित हो गये हैं। उन्होंने बङ्गाल की एशियाटिक सोसायटी की नींव डाली थी। यद्यपि उनके पहले भी कई योरप-निवासियों ने इस देश में आकर संस्कृत की थोड़ी-बहुत शिक्षा प्राप्त की थी, तथापि सर विलियम की तरह बड़ी-बड़ी कठिनाइयों को झेलकर संस्कृत का यथेष्ट ज्ञान और किसी ने उनके पहले नहीं प्राप्त किया था। एशियाटिक सोसायटी की स्थापना करके उन्होंने बहुत बड़ा काम किया। इस सोसाइटी की बदौलत पौर्वात्य भाषाओं के अनेक अलभ्य ग्रन्थ आज तक प्रकाशित हो चुके हैं और अनेक अश्रुतपूर्व विद्या और कला आदि के विषय की बातें मालूम हुई हैं। यदि सर विलियम जोन्स संस्कृत सीखकर संस्कृत के ग्रन्थों का अनुवाद अँगरेज़ी में न प्रकाशित करते तो शायद संस्कृत-भाषा और

संस्कृत-साहित्य का महत्त्व योरप के विद्वानों पर विदित न होता। और यदि होता भी तो बहुत दिन बाद होता।

जून १९०७ के "हिन्दुस्तान रिव्यू" में एक छोटा सा लेख, श्रीयुक्त एस० सी० सन्याल, एम० ए०, का लिखा हुआ प्रकाशित हुआ है। उसमें लेखक ने दिखलाया है कि कैसी-कैसी कठिनाइयों को झेलकर सर विलियम ने कलकत्ते में संस्कृत सीखी। क्या हम लोगों में एक भी मनुष्य ऐसा है जो सर विलियम की आधी भी कठिनाइयाँ उठाकर संस्कृत सीखने की इच्छा रखता हो? कितनी लज्जा, कितने दुःख, कितने परिताप की बात है कि विदेशी लोग इतना कष्ट उठाकर और इतना धन ख़र्च करके संस्कृत सीखें और संस्कृत-साहित्य के जन्मदाता भारत-वासियों के वंशज फ़ारसी और अँगरेज़ी-शिक्षा के मद में मतवाले होकर यह भी न जानें कि संस्कृत नाम किस चिड़िया का है! संस्कृत जानना तो दूर की बात है, हम लोग अपनी मातृभाषा हिन्दी भी तो बहुधा नहीं जानते। और जो लोग जानते भी हैं उन्हें हिन्दी लिखते शरम आती है? इन मातृभाषा-द्रोहियों का ईश्वर कल्याण करे! सात समुद्र पार कर इँगलॅड वाले यहाँ आते हैं और न जाने कितना परिश्रम और ख़र्च उठा कर यहाँ की भाषायें सीखते हैं। फिर अनेक उत्तमोत्तम ग्रन्थ लिखकर ज्ञानवृद्धि करते हैं। उन्हींके ग्रन्थ पढ़कर हम लोग अपनी भाषा और अपने साहित्य के तत्वज्ञानी बनते हैं। पर ख़ुद कुछ नहीं करते। करते हैं सिर्फ़ व्यर्थ कालातिपात। और करते हैं अँगरेज़ी लिखने की अपनी योग्यता का प्रदर्शन। घर में घोर अन्धकार है, उसे तो दूर नहीं करते। विदेश में जहाँ गैस और बिजली की रोशनी हो रही है, चिराग़ जलाने दौड़ते हैं।

सर विलियम जोन्स, सुप्रीम कोर्ट के जज मुक़र्रर होकर, १७८३ ईसवी में, कलकत्ते आये। वहाँ आकर उन्होंने थोड़ी सी हिन्दी सीखी। उसकी

मदद से वे अपने नौकरों से किसी तरह बातचीत कर लेने लगे। उसके बाद उन्हें संस्कृत सीखने की इच्छा हुई। इससे वे एक पण्डित की तलाश में लगे। पर पण्डित उन्हें कैसे मिल सकता था? वह आजकल का ज़माना तो था नहीं। एक भी ब्राह्मण वेद और शास्त्र की पवित्र संस्कृत भाषा एक यवन को सिखाने पर राज़ी न हुआ। कृष्णनगर के महाराज शिवचन्द्र सर विलियम के मित्र थे। उन्होंने भी बहुत कोशिश की, पर व्यर्थ। यवन को संस्कृत-शिक्षा! शिव शिव! सर विलियम ने बहुत बड़ी तनख़्वाह का भी लालच दिया। पर उनका यह प्रयत्न भी निष्फल हुआ। लालच के मारे दो-एक पण्डित सर विलियम के यहां पधारे भी और इसका निश्चय करना चाहा कि यदि वे उन्हें संस्कृत पढ़ावें तो क्या तनख्वाह मिलेगी। पर जब यह बात उनके पड़ोसियों ने सुनी तब उनके तलवों की आग मस्तक तक जा पहुँची। तुम यवनों के हाथ हमारी परम पवित्र देववाणी बेचोगे। अच्छी बात है; तुम बिरादरी से ख़ारिज। तुम्हारा जलग्रहण बन्द। बस फिर क्या था, उनका सारा साहस काफ़ूर हो गया। फिर उन्होंने सर विलियम के बँगले के अहाते में क़दम नहीं रक्खा। अब क्या किया जाय। ख़ैर, कलकत्ते में न सही, और ही कहीं कोई पण्डित मिल जाय तो अच्छा। यह समझकर सर विलियम संस्कृत के प्रधान पीठ नवद्वीप को गये। वहाँ भी उन्होंने बहुत कोशिश की, परन्तु किसी ने उन्हें संस्कृत-शिक्षा देना अङ्गीकार न किया। मूँड़ मारकर वहाँ से भी वे लौट आये।

इस नाकामयाबी और नाउम्मेदी पर भी सर विलियम जोन्स ने रगड़ नहीं छोड़ी। पण्डित की तलाश में वे बराबर बने ही रहे। अन्त में ब्राह्मण तो नहीं, वैद्य-जाति के एक संस्कृतज्ञ ने, १००) रुपये महीने पर, आपको पढ़ाना मंज़ूर किया। इस पण्डित का नाम था रामलोचन कवि-भूषण। ये पण्डित महाराज संसार में अकेले ही थे। न स्त्री थी, न

सन्तति। हावड़ा के पास सलकिया में आप रहते थे। किसी से कुछ सरोकार न रखते थे। सब से अलग रहते थे। इसी से आपको जाति या समाज के वहिष्कार का डर न था। पण्डित महाशय वैद्य-विद्या भी जानते थे। पास-पड़ोस के लोग चिकित्सा कराने आपको अक्सर बुलाते थे। कभी-कभी इनके रोगी अच्छे भी हो जाते थे। इससे इन्होंने अपने मन में कहा कि यदि हम इस यवन को संस्कृत पढ़ायेंगे तो भी हमारे टोले-महल्ले के लोग हमें न छोड़ सकेंगे। जब कोई बीमार होगा, लाचार होकर उन्हें हमीं को बुलाना पड़ेगा। क्योंकि और कोई वैद्य यहाँ है ही नहीं। इसी से इन्हें सर विलियम जोन्स को पढ़ाने का साहस हुआ। एक तो १००) महीने तनख़्वाह, फिर सलकिया से चौरिंघी तक रोज आने-जाने के लिए मुफ़्त में पालकी की सवारी। याद रहे, उस समय पालकी की सवारी के लिए महीने में ३०) रुपये से कम न ख़र्च होते थे। अतएव अपना सब तरह से फ़ायदा समझकर रामलोचन ने सर विलियम को पढ़ाने का निश्चय किया।

कविभूषणजी ने सर विलियम जोन्स के साथ बड़ी-बड़ी शर्तें कीं। पर सर विलियम इतने उदार-हृदय थे कि उन्होंने सब शर्तों को मंज़ूर कर लिया। उनके बँगले के नीचे के खण्ड का एक कमरा पढ़ाने के लिए पसन्द किया गया। उसके फ़र्श में सङ्गमरमर बिछवाया गया। एक हिन्दू नौकर रक्खा गया। उसके सिपुर्द यह काम हुआ कि वह रोज़ हुगली से जल लाकर कमरे के फ़र्श को, और थोड़ी दूर तक दीवारों को भी, धोवे। दो-चार लकड़ी की कुरसियों और एक लकड़ी के मेज़ के सिवा और सब चीज़ें उस कमरे से हटा दी गईं। ये चीज़ें भी रोज़ धोई जाने लगीं। शिक्षा-दान के लिए सबेरे की बेला नियत हुई। पढ़ने के कमरे में क़दम रखने के पहले सर विलियम को हुक्म हुआ कि एक प्याला चाय के सिवा न कुछ खायँ न पियें। यह भी उन्हें मंज़ूर करना पड़ा। कवि-

भूषणजी की यह भी आज्ञा हुई कि गो-मांस, वृप-मांस, शूकर-मांस मकान के अन्दर न जाने पावे। यह बात भी क़बूल हुई। एक कमरा पण्डितजी को कपड़े पहनने के लिए दिया गया। उसके भी रोज़ धोये जाने की योजना हुई। पण्डित महाशय ने दो जोड़े कपड़े रक्खे। उनमें से एक जोड़ा इस कमरे में रक्खा गया। रोज़ प्रातःकाल जिस कपड़े को पहन कर आप साहब के यहाँ आते थे उसे इस कमरे में रख देते थे और कमरे में रक्खा हुआ जोड़ा पहनकर आप पढ़ाते थे। चलते समय फिर उसे बदलकर घर वाला जोड़ा पहन लेते थे।

इतने महाभारत के बाद सर विलियम ने "रामः, रामौ, रामाः" शुरू किया। न सर विलियम संस्कृत जानें, न कविभूषण महाशय अँगरेज़ी। पाठ कैसे चले? ख़ैर इतनी थी कि साहब थोड़ी सी टूटी-फूटी हिन्दी बोल लेते थे। उसी की मदद से पाठारम्भ हुआ। दोनों ने उसी की शरण ली। सौभाग्य से अध्यापक और अध्येता दोनों बुद्धिमान् थे। नहीं तो उतनी थोड़ी हिन्दी से कभी काम न चलता। सर विलियम ने बड़ी मिहनत की। एक ही वर्ष में वे सरल संस्कृत में अपना आशय प्रकट कर लेने लगे। संस्कृत में लिङ्गभेद और क्रियाओं के रूप बड़े मुश्किल हैं। बहुत सम्भव है, पहले पहल सर विलियम ने बहुत सी संज्ञाओं और क्रियायों के रूप काग़ज़ पर लिख लिये होंगे। उनकी तालिकायें बना ली होंगी। उन्हीं की मदद से उन्होंने आगे का काम निकाला होगा। किस तरह उन्होंने पण्डित रामलोचन से संस्कृत सीखी, कहीं लिखा हुआ नहीं मिलता। यदि उनकी पाठ-ग्रहण-प्रणाली मालूम हो जाती तो उसे जान कर जरूर कुतूहल होता।

एक दिन सर विलियम जोन्स पण्डित महाशय से बातचीत कर रहे थे। बातों-बातों में नाटक का ज़िक्र आया। आपको मालूम हुआ कि संस्कृत में भी नाटक के ग्रन्थ हैं। उस समय भी कलकत्ते में अमीर

आदमियों के यहाँ नाटक खेले जाते थे। अँगरेज़ों को यह बात मालूम थी। पण्डित रामलोचन ने कहा कि पुराने ज़माने में भी राजों और अमीर आदमियों के यहाँ ऐसे ही नाटक हुआ करते थे। यह सुनकर सर विलियम को आश्चर्य्य हुआ और पण्डित रामलोचन से आप शकुन्तला पढ़ने लगे। उस पर आप इतने मुग्ध हुए कि उसका गद्य-पद्यमय अँगरेज़ी अनुवाद आपने कर डाला। यद्यपि अनुवाद अच्छा नहीं बना, तथापि उसने योरपवालों की आँखें खोल दीं। उसे पढ़कर लोगों ने पहले पहल जाना कि संस्कृत का साहित्य ख़ूब उन्नत है। जर्मनी का गेटी नामक कवि तो सर विलियम के अनुवाद को पढ़कर अलौकिक आनन्द से मत्त हो उठा। उसने उसी मत्तता की दशा में शकुन्तला की स्तुति में एक कविता तक बना डाली।

सुनते हैं, सर विलियम जोन्स के संस्कृत-शिक्षक बड़े तेज-मिज़ाज आदमी थे। जो बात सर विलियम की समझ में न आती थी उसे गुरु-जी से पूछना पड़ता था। गुरु महाशय ठीक तौर से पढ़ाना जानते न थे। वे सर विलियम को भी उसी रास्ते ले जाते थे जिस रास्ते टोल (पाठ-शालाओं) के विद्यार्थी जाते हैं। इससे सर विलियम को कभी-कभी कोई बात दो-दो, तीन-तीन दफ़े पूछनी पड़ती थी। एक दफ़े बताने से वह उनके ध्यान ही में न आती थी। ऐसे मौक़ों पर गुरुदेव महाशय का मिज़ाज गरम हो उठता था। आप झट कह बैठते थे—"यह विषय बड़ा ही क्लिष्ट है, गो-मांस-भोजी लोगों के लिए इसका ठीक-ठीक समझना प्रायः असम्भव है"। पर सर विलियम जोन्स पण्डित महाशय का इतना प्यार करते थे और उन्हें इतना मान देते थे कि उनकी इस तरह की मलामतों को वे हँसकर टाल दिया करते थे।

पण्डित रामलोचन कविभूषण १८१२ ईसवी तक जीवित थे। वे अच्छे विद्वान् थे। काव्य, नाटक, अलङ्कार और व्याकरण में वे ख़ूब प्रवीण

थे। पर धर्मशास्त्र और दर्शन में उनकी विशेष गति न थी। इसलि
व्याकरण और काव्य का यथेष्ट अभ्यास कर चुकने पर, जब सर विलिय
ने धर्मशास्त्र का अध्ययन शुरू किया तब उन्हें एक और पण्डित रखन
पड़ा। यवनों को संस्कृत सिखाना पहले घोर पाप समझा जाता था, प
अब इस तरह का ख़याल कुछ ढीला पड़ गया था। इससे सर विलिय
को धर्मशास्त्री पण्डित ढूँढ़ने में विशेष कष्ट नहीं उठाना पड़ा।

सर विलियम जोन्स, १७८३ ईसवी में, जज होकर कलकत्ते आ
और १७९४ में वहीं मरे। हिन्दुस्तान आने के पहले आक्सफर्ड
उन्होंने फ़ारसी और अरबी सीखी थी। उनका बनाया हुआ फ़ारसी क
व्याकरण उत्तम ग्रन्थ है। वह अब नहीं मिलता। बङ्गाल की एशियाटि
सोसायटी उन्हीं की क़ायम की हुई है। उसे चाहिए कि इस व्याकर
को वह फिर से प्रकाशित करे, जिसमें सादी और हाफ़िज़ की मनोमोह
भाषा सीखने की जिन्हें इच्छा हो वे उससे फ़ायदा उठा सकें। हिन्दुस्ता
की सिविल सर्विस के मेम्बरों के लिए वह बहुत उपयोगी होगा।

[जून १९०८

५—पुराने अँगरेज़ अधिकारियों के संस्कृत पढ़ने का फल

इँगलिस्तान के व्यापारी तो बहुत पहले से भारत में व्यापार करते थे ; पर उन सब का काम अलग-अलग होता था, एक में न होता था। इससे काम-काज में सुभीता कम था और मुनाफ़ा भी कम होता था। इस त्रुटि को दूर करने के लिए १२५ आदमियों ने मिलकर, साढ़े दस लाख रुपये की पूँजी से, एक कम्पनी बनाई। इँगलैंड की रानी एलिज़बेथ ने, ३१ दिसम्बर १६०० को, इस कम्पनी की दस्तावेज़ पर दस्तख़त करके इँगलैंड और भारत के बीच व्यापार करने की आज्ञा दी। ईस्ट-इंडिया-कम्पनी की जड़ यहीं से जमी, अथवा यों कहिए कि अँगरेज़ी राज्य का सूत्रपात यहीं से हुआ। इसी १२५ व्यापारियों की कम्पनी ने, कुछ दिनों में, राजसी ठाट जमा लिया और अपने देश इँगलिस्तान की अपेक्षा जिस देश की आबादी दस गुनी अधिक है उस पर व्यापार करते-करते राजसत्ता भी चलाने लगी। इस कम्पनी के साझीदार अपने देश में तो अपने बादशाह की रियाया थे; पर भारत में ख़ुद ही बादशाह बनकर हुकूमत करते थे; फ़ौजें रखते थे; बड़े-बड़े राजों, महाराजों और शाहंशाहों की बराबरी करते थे; लड़ाइयाँ लड़ते थे; सन्धि-स्थापना करते थे और भी न मालूम कितने सत्तासूचक काम करते थे। ऐसा दृश्य इस भूमण्डल में बहुत कम देखा गया होगा। यह हमारा निज का कथन नहीं, किन्तु

लन्दन की टी० फिशर अनविन कम्पनी के लिए ए० रगोज़िन साहब ने जो भारतवर्ष का एक प्राचीन इतिहास लिखा है उसके एक अंश का अवतरण मात्र है।

भारत में व्यापार करनेवाले योरप के गोरे व्यापारियों की यह पहली ही कम्पनी न थी। पोर्चुगीज़ लोग यहाँ बहुत पहले से—जब से वास्को डि-गामा ने १४९८ ईसवी में इस देश की भूमि पर क़दम रक्खा—व्यापार में लगे थे। विदेशी व्यापारियों में वे अकेले ही थे और ख़ूब मालामाल हो रहे थे। अँगरेज़ व्यापारियों ने देखा कि ये लोग करोड़ों रुपये अपने देश ढोये लिये जा रहे हैं; चलो हम भी इन्हीं की तरह भारत में व्यापार करें और जो मुनाफ़ा इन लोगों को हो रहा है उसका कुछ अंश हम भी लें। पोर्चुगीज़ों का व्यापार कोई सौ वर्ष तक बिना किसी विघ्न-बाधा के भारत में जारी रहा। इसमें कुछ सन्देह नहीं कि वे लोग एक प्रान्त के बाद दूसरे प्रान्त को अपनी ज़मींदारी में शामिल करके पूरे मुल्क को अपने क़ब्ज़े में कर लेने का इरादा रखते थे। वे लोग अपने इस इरादे को कार्य्य में परिणत कर ही रहे थे कि ईस्ट-इंडिया-कम्पनी ने भारत में पदार्पण किया। अँगरेज़ व्यापारी पोर्चुगीज़ लोगों से किसी बात में कम न थे। उन्होंने बड़ी दृढ़ता से पोर्चुगीज़ों का सामना किया। उनके साथ चढ़ा-ऊपरी करने में अँगरेज़ों ने बड़ी सरगरमी दिखाई। फल यह हुआ कि पोर्चुगीज़ लोगों का प्रभुत्व धीरे-धीरे कम हो चला। उनकी आमदनी के द्वार क्रम-क्रम से बन्द होने लगे। यहाँ तक कि १६६१ ईसवी में उन लोगों ने अपनी बची-बचाई एक मात्र ज़मींदारी इँगलिस्तान के राजा को दे डाली। उस समय केवल बम्बई और उसके आसपास का भूभाग उन लोगों के क़ब्ज़े में था। पूर्वोक्त सन् में पोर्चुगल की राजकुमारी कैथराइन का विवाह इँगलेंड के राजा दूसरे चार्ल्स के साथ हुआ। तब बम्बई की ज़मींदारी को अपने किसी काम की न समझकर पोर्चुगल के

राजा ने कैथराइन के दहेज़ में दे डाला। परन्तु अँगरेज़-राज ने इस दहेज़ को तुच्छ समझकर १५० रुपये सालाना मालगुज़ारी देने का इक़रारनामा लेकर, ईस्ट-इंडिया-कम्पनी को दे डाला! बम्बई और उसके आस-पास के प्रदेश की क़ीमत उस समय साढ़े बारह रुपये महीने से अधिक नहीं समझी गई !!!

व्यापार-व्यवसाय और ज़मींदारी आदि बढ़ाने में पोर्चुगीज़ लोगों की प्रतियोगिता यद्यपि जाती रही, तथापि अँगरेज़ों को भारत में सत्ता-विस्तार करते देख योरप के और लोगों के मुँह से भी लार टपकने लगी। फ्रांस, डेनमार्क और हालैंड में भी ईस्ट-इंडिया नाम की कम्पनियाँ खड़ी हुईं। उन्होंने भी भारत में व्यापार आरम्भ करके अँगरेज़-कम्पनी के मुनाफ़े को घटाना आरम्भ कर दिया। यही नहीं, किन्तु जर्मनी और स्वीडन में भी इस तरह की कम्पनियाँ बनीं। उन्होंने भी भारत में अपनी-अपनी कोठियाँ खोलीं। परन्तु डेनमार्क, जर्मनी और स्वीडन की कम्पनियों से हमारी अँगरेज़ी ईस्ट-इंडिया-कम्पनी का कुछ भी नहीं बिगड़ा। इन तीनों कम्पनियों का महत्त्व इतना कम था कि अँगरेज़ी कम्पनी के साथ ये नाम लेने योग्य चढ़ा-ऊपरी नहीं कर सकीं। परन्तु डच और फ्रेंच कम्पनियों के विषय में यह बात नहीं कही जा सकती। उनके कारण अँगरेज़-कम्पनी का मुनाफ़ा और प्रभुत्व ज़रूर कम हो गया। डच लोग उस समय सामुद्रिक बल में अपना सानी न रखते थे। इससे उन लोगों ने हर तरह से अँगरेज़ी ईस्ट-इंडिया-कम्पनी के साथ चढ़ा-ऊपरी आरम्भ कर दी—यहाँ तक कि बल-प्रयोग करके भी अपना मतलब निकालने में डच लोगों ने कसर नहीं की। भारत ही में अपना प्रभुत्व-विस्तार करके डच लोग चुप नहीं रहे। उन्होंने बड़ी फुरती से लङ्का, सुमात्रा, जावा और मलाका आदि द्वीपों का भी अधिकांश अपने क़ब्ज़े में कर लिया। इस डच कम्पनी ने अँगरेज़-व्यापारियों की कम्पनी

के साथ जी-जान होमकर प्रतियोगिता की। इस कारण दोनों में विषम शत्रुभाव पैदा हो गया। एक दूसरी को नीचा दिखाने की सदा ही कोशिश करती रही। यहाँ तक कि कभी-कभी मार-काट तक की भी नौबत आई। बड़ी-बड़ी कठिनाइयाँ झेलने के बाद अँगरेज़-व्यापारियों को इन डच व्यापारियों की प्रतियोगिता से फुरसत मिली। कोई सौ वर्ष तक उनके साथ तरह-तरह के दाँव-पेंच खेले गये। अन्त में इन लोगों ने आजिज़ आकर भारत से अपना सरोकार छोड़ दिया।

अब अकेली फ़्रेंच कम्पनी का सामना अँगरेज़ों को करना पड़ा। इस फ़्रेंच कम्पनी का भी आन्तरिक अभिप्राय भारत को धीरे-धीरे अपनी मुट्ठी में कर लेने का था। और अँगरेज़ भी इसी इरादे से पैर फैला रहे थे। एक बिल में दो साँप कैसे रहें? इससे दोनों में घोर कलह उपस्थित हो गया। एक ने दूसरे को अपदस्थ करने की कोशिश आरम्भ कर दी। कूट नीति से काम लिया जाने लगा। जब उससे कामयाबी न हुई तब लड़ाइयाँ तक लड़ी गईं। एक कम्पनी दूसरी के पीछे ही पड़ी रही। होते-होते अँगरेज़ों का प्रभुत्व बढ़ा। उसने फ़्रांस वालों के बल को नष्टप्राय कर दिया। पाँडीचरी, करीकाल और चन्द्रनगर की ज़मींदारियों को छोड़कर फ़्रेंच लोगों का भारत में और कुछ बाक़ी न रहा। पोर्तुगीज़ों के क़ब्ज़े में भी समुद्र के किनारे-किनारे सिर्फ़ दस-पाँच मील ज़मीन रह गई। अँगरेज़ों ने कहा, कुछ हर्ज़ नहीं। इन लोगों के पास इतनी ज़मींदारी बनी रहने दो। इससे हमारा कुछ नहीं बिगड़ सकता।

अब अँगरेज़ों को अपना बल, विक्रम और प्रभाव बढ़ाने में रोकनेवाला कोई न रहा—फ़्रेंच, पोर्तुगीज़, डच सब ने उनके लिए रास्ता साफ़ कर दिया। अँगरेज़ों की महिमा बढ़ने लगी। व्यापार-वृद्धि के साथ-साथ राज्य-वृद्धि भी होने लगी। एक के बाद दूसरा प्रान्त उनका वशवर्ती होता गया। क्लाइव ने अँगरेज़ी राज्य की नींव और भी मज़बूत कर दी।

वारन हेस्टिंग्ज़ ईस्ट-इंडिया-कम्पनी के पहले गवर्नर-जनरल हुए। उन्होंने सब से पहले भारत-वासियों की रीति, रस्म और स्वभाव आदि का ज्ञान प्राप्त करने की कोशिश की। उस समय भारतवासी बोझा ढोनेवाले पशुओं के समान समझे जाते थे। उनके देश में क़दम रखना सिर्फ़ रुपया कमाने के लिए ही ज़रूरी समझा जाता था। ख़ैर। वारन हेस्टिंग्ज़ ने कहा कि जिन लोगों से और जिन लोगों के देश से हमें इतना लाभ है उन पर, जहाँ तक हमें कोई हानि न पहुँचे, अच्छी तरह शासन करना चाहिए। परन्तु सुशासन की योग्यता आने के लिए भारतवासियों के इतिहास, विश्वास, धर्म्म, साहित्य आदि का ज्ञान होना ज़रूरी समझा गया। अतएव वारन हेस्टिंग्ज़ ने अपने अधीन कर्म्मचारियों का ध्यान इस ओर दिलाया और सर विलियम जोन्स ने पहले पहल संस्कृत सीखना आरम्भ किया।

सर विलियम बङ्गाल की 'सुप्रीम कोर्ट' के जज थे। उन्होंने १७८४ ईसवी में बङ्गाल की एशियाटिक सोसाइटी की स्थापना की और हम लोगों के धर्म्म-शास्त्र का अध्ययन आरम्भ किया। क्योंकि बिना धर्म्म-शास्त्र के ज्ञान के भारतवासियों के मुक़द्दमों का फ़ैसिला करने में अँगरेज़ जजों को बेहद कठिनाई का सामना करना पड़ता था और दत्तक आदि लेने का विषय उपस्थित होने पर वारन हेस्टिंग्ज़ को पंडितों की शरण लेनी पड़ती थी। सर विलियम जोन्स ने किस तरह संस्कृत सीखी, इस पर एक लेख पहले ही लिखा जा चुका है। इस काम में उन्हें सैकड़ों विघ्न-बाधायें हुईं। पर सब को पार करके सर विलियम ने, मतलब भर के लिए, संस्कृत का ज्ञान प्राप्त ही कर लिया। अरबी और फ़ारसी तो वे इँगलैंड ही से पढ़कर आये थे। संस्कृत उन्होंने यहाँ पढ़ी। पूर्वी देशों की भाषाओं में से यही तीन भाषायें, साहित्य के नाते, उच्च और बड़े काम की समझी जाती हैं।

सर विलियम ने पहले मनुस्मृति का अनुवाद किया। यह अनुवाद १७९. ईसवी में छपा। इससे बड़ा काम निकला। अँगरेज़ जजों को भारती पण्डितों की जो पद-पद पर सहायता दरकार होती थी उसकी ज़रूर बहुत कम रह गई। भारतवासियों को अपने धर्म्मशास्त्र के अनुसार न्या कराने में तब से बहुत सुभीता हो गया।

इसके बाद संस्कृत-नाटकों का नाम सुनकर सर विलियम जोन्स ने नाटकों का पता लगाना आरम्भ किया और शकुन्तला नाटक को पढ़कर उसका अनुवाद अँगरेज़ी में किया। इस नाटक ने योरप के विद्यारसि जनों की आँखें खोल दीं। तब तक योरप वाले भारतवासियों को, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, निरे जङ्गली समझते थे। उनका ख़याल था कि भारत में कुछ भी साहित्य नहीं है और जो कुछ है भी वह किसी का का नहीं। तब तक योरप वालों की दृष्टि में भारतवासी अत्यन्त ही घृणा की दृष्टि से देखे जाते थे। घृणा की दृष्टि से तो वे अब भी देखे जाते हैं, पर अब और तब में बहुत अन्तर है। तब हम लोगों की गिनती कुछ-कुछ अफ़रीक़ा की हाटेनटाट, बुशम्यन और ज़ूलू आदि महा असभ्य जातियों में थी और भारत की कुछ क़दर यदि की जाती थी तो सिर्फ़ इसलिए कि उसकी बदौलत करोड़ों रुपये विलायत ले जाने को मिलते थे। पर शकुन्तला को पढ़कर उन लोगों का यह भाव एकदम तिरोहित हो गया। शकुन्तला की कविता, उसके पात्रों का चरित, उसकी भाव-प्रवणता आदि देखकर वे लोग मुग्ध हो गये। शकुन्तला के अँगरेज़ी अनुवाद के भी अनुवाद जर्मन और फ़्रेंच आदि अनेक भाषाओं में हो गये, जिन्हें पढ़कर तत्तद्देशवासियों ने भी उसकी श्रेष्ठता एक-स्वर से क़बूल की।

शकुन्तला वह चीज़ है जिसकी कृपा से भारतवासी हैवान से इन्सान समझे जाने लगे—पशु से मनुष्य माने जाने लगे। अतएव भगवान् कालिदास के हम लोग हृदय से ऋणी हैं। शकुन्तला से योरपवालों को मालूम

हो गया कि नाट्यविद्या में हिन्दू-सन्तान उन लोगों से यदि बढ़ी हुई नहीं है तो कम भी किसी तरह नहीं। वे यह भी जान गये कि जिस ग्रीक-भाषा के साहित्य की श्रेष्ठता के वे लोग इतने क़ायल हैं, संस्कृत का साहित्य उससे भी, किसी-किसी अंश में, आगे बढ़ा हुआ है। प्राचीनता में तो संस्कृत-साहित्य की बराबरी किसी भी भाषा का साहित्य नहीं कर सकता।

शकुन्तला के रचना-कौशल को देखकर योरपवालों को जितना कौतूहल हुआ उसके कथानक का विचार करके उससे भी अधिक आश्चर्य्य हुआ। उसके कथानक का सादृश्य उन्हें एक ग्रीक कहानी में मिल गया। और जब उन लोगों ने विक्रमोर्वशी देखी तब उसके कथानक की भी सदृशता उन्हें ग्रीक-भाषा की एक कहानी में मिली। इस पर उन लोगों के आश्चर्य्य की सीमा न रही। वे सोचने लगे कि क्या बात है जो इन असभ्य अथवा अर्द्धसभ्य भारतवासियों की बातें उनके पूज्यतम ग्रीक लोगों की बातों से मिलती हैं। कहीं दोनों के पुरुषों का किसी समय एकत्र वास तो नहीं रहा? यह तो साधारण आदमियों की बात हुई। भाषा-शास्त्र के जाननेवालों को, पुरातत्त्व-वेत्ताओं को, तथा पुरानी कथा-कहानियों का ज्ञान रखनेवालों को तो विश्वास सा हो गया कि इस साम्य का ज़रूर कोई बहुत बड़ा कारण है। शकुन्तला के पाठ और बङ्गाले की एशियाटिक सोसाइटी की स्थापना से सर विलियम जोन्स के सिवा चार्ल्स विलकिन्स और हेनरी टामस कोलब्रुक आदि और भी कई अँगरेज़ विद्वानों को संस्कृताध्ययन की ओर रुचि हुई। नई-नई खोज होने लगी; नई-नई पुस्तकें बनने लगीं। फल यह हुआ कि इन गौराङ्ग-पण्डितों को संस्कृत के सैकड़ों शब्द ग्रीक आदि योरप की प्राचीन भाषाओं में प्रायः तद्वत् अथवा कुछ फेरफार के साथ मिल गये। इससे इन लोगों के आश्चर्य्य, कौतूहल और एक प्रकार के आतङ्क का ठिकाना न रहा। अरे,

इन वहशी हिन्दुस्तानियों की प्राचीन भाषा क्या किसी समय हमारे पूर्व-पुरुषों की भाषा थी !

बस फिर क्या था, योरप के कितने ही पण्डित काव्य, नाटक, इतिहास, धर्मशास्त्र आदि का अध्ययन जी लगाकर करने लगे। जर्मनी में वान शेलीजल और वान हम्बोल आदि प्रकाण्ड पण्डितों ने बड़ी सरगरमी से संस्कृत सीखना शुरू किया। जब इन लोगों को वेद पढ़ने और समझने की शक्ति हो गई तब इन्होंने अपना अधिक समय वैदिक ग्रन्थों ही के परिशीलन में लगाना आरम्भ किया। इससे उनकी आँखें खुल गईं। संस्कृत-शिक्षा का प्रचार इँगलिस्तान और जर्मनी के सिवा फ़्रांस, हालैंड, अमेरिका और रूस तक में होने लगा। वैदिक ग्रन्थों को इन विद्वानों ने एक स्वर से दुनिया के सब ग्रन्थों से पुराना माना और उनके सम्बन्ध में नाना प्रकार की चर्चा आरम्भ हो गई। तब से आज तक योरप में कितने ही विद्वान् ऐसे हो गये हैं और कितने ही होते जाते हैं जिनकी कृपा से संस्कृत-साहित्य के नये-नये रत्न हम लोगों को प्राप्त हुए हैं और अब तक प्राप्त होते जाते हैं।

अँगरेज़-अधिकारियों ने संस्कृत सीखने की ओर ध्यान तो अपने स्वार्थसाधन के लिए दिया था—उन्होंने तो इसलिए पहले पहल संस्कृत सीखने की ज़रूरत समझी थी जिसमें हम लोगों की रीति-रस्में आदि जानकर भारत पर बिना विघ्न-बाधा के शासन कर सकें—पर संस्कृत साहित्य की श्रेष्ठता ने उन लोगों को भी उसका अध्ययन करने के लिए लाचार किया जिनका शासन से क्या, इस देश से भी, कुछ सम्बन्ध न था। यदि योरपवाले संस्कृत की क़दर न करते तो हज़ारों अनमोल ग्रन्थ यहीं कीड़ों की ख़ूराक हो जाते। जर्मनी, फ़्रांस और इँगलेंड आदि के पुस्तकालयों में क्यों वे पहुँचते और क्यों प्रतिवर्ष नये-नये ग्रन्थों का पता लगाया जाता ? आज तक योरप के विद्वानों ने जो अनेकानेक

अलभ्य ग्रन्थ प्रकाशित किये हैं, अनेकानेक वैदिक रहस्यों का उद्घाटन किया है, हमारे और अपने पूर्वजों के किसी समय एकत्र एक ही जगह रहने और एक ही भाषा बोलने के विषय में जो प्रमाणपूर्ण अनेकानेक पुस्तकें लिखी हैं उसके लिए भारतवासी उनके बहुत कृतज्ञ हैं। यदि हमारी देववाणी संस्कृत की महिमा से आकृष्ट होकर योरप के विद्या-व्यसनी जन उसका परिशीलन न करते तो भारत में राजा और प्रजा के बीच इस समय जैसा भाव है, शायद वैसा कभी न होता। बहुत सम्भव है, पूर्ववत् हम लोग पशुओं ही की तरह लाठी से हाँके जाते। अतएव हम लोग अँगरेज़-कर्म्मचारी, योरप के विद्वान्, संस्कृत भाषा और महाकवि कालिदास के बहुत ऋणी हैं। विशेष कर कालिदास ही की बदौलत हमारी सभ्यता और विद्वत्ता का हाल यूरपवालों को मालूम हुआ है। हमारा धर्म्म है कि हम कालिदास की पूजा करें और प्रेमपूर्वक संस्कृत सीखें।

[फ़रवरी १९०९

———

६—योरप के विद्वानों के संस्कृत-लेख और देव-नागरी-लिपि

हिन्दुस्तान में हज़ारों लोग ऐसे हैं जिन्होंने अँगरेज़ी जैसी क्लिष्ट और विदेशी भाषा में बड़े-बड़े गहन ग्रन्थ लिखे हैं, जो अँगरेज़ी के प्रतिष्ठित पत्रों और सामयिक पुस्तकों का बड़ी ही योग्यता से सम्पादन करते हैं, जो अँगरेज़ी में धारा-प्रवाह वक्तृता देते हैं और जिन्हें अँगरेज़ी भाषा मातृ-भाषा ही सी हो रही है। कितने ही भारतवासियों की लिखी हुई अँगरेज़ी-पुस्तकें विलायत तक के पुस्तक-प्रकाशक बड़े ही आग्रह और उत्साह से प्रकाशित करते हैं और लेखकों को हज़ारों रुपया पुरस्कार भी देते हैं। इस देश के कितने ही वक्ताओं की मनोमोहनी और अविश्रान्त वाग्धारा के प्रवाह ठेठ विलायत की भूमि पर भी सैकड़ों-हज़ारों दफ़े बहे हैं और अब भी, समय समय पर, बहा करते हैं। हम लोगों की अँगरेज़ी को "बाबू-इँगलिश" कहकर घृणा प्रकाशित करनेवालों की आँखों के सामने ही ये सब दृश्य हुआ करते हैं। परन्तु आज तक इँगलिस्तान वालों में से ऐसे कितने विद्वान् हुए हैं जिन्होंने हमारी हिन्दी या संस्कृत भाषा में पुस्तकें लिखी हों, अथवा इन भाषाओं में कभी वैसी वक्तृता दी हो जैसी कि बाबू सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी या पण्डित मदनमोहन मालवीय देते हैं। ढूँढ़ने से शायद दो ही चार विद्वान् ऐसे निकलेंगे। विलायत वाले चाहे संस्कृत में कितने ही व्युत्पन्न क्यों न हो

जायँ, पर, यदि उसके विषय में कभी कुछ कहेंगे तो अपनी ही भाषा में, लिखेंगे तो अपनी ही भाषा में, व्याख्यान देंगे तो भी अपनी ही भाषा में। संस्कृत पढ़कर ये लोग अधिकतर भाषा-विज्ञान और संस्कृत शास्त्रों के सम्बन्ध ही में लेख और पुस्तकें लिखते हैं। कोई प्राचीन पुस्तकों के अनुवाद करते हैं; कोई वैदिक-साहित्य-सागर में ग़ोता लगा कर नये-नये तत्वरत्न ढूँढ़ निकालते हैं; कोई साहित्य की अन्य शाखाओं का अध्ययन करके उसकी तुलनामूलक समालोचना करते हैं। परन्तु यह सब वे अपनी ही मातृभाषा में करते हैं। उन्हें संस्कृत-साहित्य से सम्बन्ध रखनेवाली बातें संस्कृत ही में लिखने की आवश्यकता भी नहीं। संस्कृत में लिखने से कितने आदमी उनके लेख और पुस्तकें पढ़ सकें? बहुत ही कम। और जो पढ़ भी सकें उनमें से भी बहुत ही कम भारत-वासी पण्डित ऐसी पुस्तकें मोल ले सकें। शायद इसी से योरप के संस्कृतज्ञ संस्कृत-भाषा और देवनागरी-लिपि में अपने विचार प्रकट करने का अभ्यास नहीं करते। अतएव यदि कोई यह कहे कि उनमें संस्कृत लिखने का माद्दा ही नहीं तो उसकी यह बात न मानी जायगी। अभ्यास से क्या नहीं हो सकता? योरपवाले सैकड़ों काम ऐसे करते हैं जिन्हें देखकर अथवा जिनका वर्णन पढ़कर हम लोगों को अपार आश्चर्य है। अतएव अभ्यास करने से अच्छी संस्कृत लिख लेना उनके लिए कोई बड़ी बात नहीं। वह उनके लिए सर्वथा साध्य है। जो लोग भारत आते हैं और यहाँ कुछ समय तक रहते हैं उनके लिए तो यह बात और भी सहल है।

इस पर भी कई विद्वान् योरप में ऐसे हो गये हैं, और अब भी कई मौजूद हैं, जिनकी लिखी संस्कृत-भाषा देखकर मालूम होता है कि वह उन्हें करतलगत आमलकवत् हो रही है। डाक्टर बूलर और पिटर्सन बिना रुके संस्कृत में बातचीत कर सकते थे। कुछ समय हुआ, रूस के एक

विद्वान् भारत आये थे। वे भी अच्छी संस्कृत बोल लेते थे। विदेशियों की संस्कृत बोली में यदि कोई विलक्षणता होती है तो वह उच्चारण सम्बन्धिनी है। परन्तु इस प्रकार की विलक्षणता स्वाभाविक है। हम लोगों की अँगरेज़ी भी तो विलक्षणता से ख़ाली नहीं।

कोई साठ वर्ष हुए, जेम्स राबर्ट बालेंटाइन नामक एक विद्वान्, बनारस के गवर्नमेंट-कालेज में, प्रधान अध्यापक थे। वे संस्कृत के अच्छे ज्ञाता थे। अरबी-फ़ारसी में भी उनकी गति थी। संस्कृत वे बोल भी सकते थे और लिख भी सकते थे। संस्कृत-भाषा और देव-नागरी लिपि के वे बड़े भारी पक्षपाती थे। वे चाहते थे कि अँगरेज़ी में जो ज्ञान-समूह है उससे भारतवासी लाभ उठावें और संस्कृत में जो कुछ ज्ञेय है उससे अँगरेज़ी जाननेवाले लाभ उठावें। इसी से उन्होंने बनारस-कालेज के संस्कृत-विभाग में पढ़नेवालों को अँगरेज़ी भाषा सीखने का भी प्रबन्ध किया था। अपनी उद्देश-सिद्धि के लिए उन्होंने, गवर्नमेंट की आज्ञा से, कुछ उपयोगी पुस्तकें भी प्रकाशित की थीं। उनमें से एक पुस्तक का नाम है—Synopis of Science. उसमें योरप और भारत के शास्त्रों का सारांश, अँगरेज़ी और संस्कृत-भाषाओं में, है। बालेंटाइन साहब की यह पुस्तक देखने लायक़ है। इस पुस्तक को छपे और प्रकाशित हुए पचास वर्ष से अधिक समय हुआ। इसका दूसरा संस्करण, जो हमारे सामने है, मिर्ज़ापुर के आर्फ़न-स्कूल-प्रेस का छपा हुआ है। न्याय, सांख्य, वेदांत, ज्यामिति, रेखागणित, बीजगणित, प्राणिशास्त्र, रसायनशास्त्र, समाजशास्त्र, वनस्पतिशास्त्र, कीटपतङ्गशास्त्र, भूगोलविद्या, भूस्तरविद्या, राजनीति-विज्ञान, यहाँ तक कि सम्पत्ति-शास्त्र तक के सिद्धान्तों का इसमें वर्णन है। पुस्तक दो भागों में विभक्त है। प्रथमार्द्ध में पूर्वोक्त शास्त्रों का सारांश, अँगरेज़ी में, दिया गया है, और उत्तरार्द्ध में संस्कृत में। गौतमीय न्यायशास्त्र के आधार पर साध्य की सिद्धि की गई है।

योरप और भारत के शास्त्रीय सिद्धान्तों में जहाँ-जहाँ विरोध है वहाँ-वहाँ योग्यता-पूर्वक वह विरोध स्पष्ट करके दिखलाया गया है। परन्तु किसी के मत, सिद्धान्त या विवेचन पर कटाक्ष नहीं किया गया। एक उदाहरण लीजिए। गौतम-सूत्रों के आधार पर वालेंटाइन साहब ने एक जगह अपवर्ग, अर्थात् मोक्ष की व्याख्या कर के यह लिखा—

"पुनर्दुःखोत्पत्तिर्यथा न स्यात् विमोक्षो विध्वंसः तथा च पुनर्दुःखोत्पत्तिप्रतिबन्धको दुःखध्वंसः परमपुरुषार्थस्तत्त्वज्ञानेन प्राप्तव्य इति गौतममतम्।"

इसके आगे ही आपने अपने, अर्थात् योरप के तत्त्वज्ञानियों के, मत का इस प्रकार निदर्शन किया—

"अस्मन्मतं तु नैवंविधदुःखध्वंसमात्रं परमपुरुषार्थः। तस्याभावरूपतया तुच्छत्त्वेन स्वतो मनोहरत्वाभावात्। किन्तु परमपुरुषार्थे दुःखध्वंसादन्यत् किमपि स्पृहणीयमस्ति। यद्वा तद्वा तदस्तु, तत् सर्वथा सर्वज्ञस्य परमदयालोः परमेश्वरस्यैव प्रसादेन तद्भक्तैः प्राप्यमस्तीति।"

इसी तरह बराबर आप, जहाँ जहाँ आवश्यकता थी, अपना मत देते गये हैं। पर कहीं भी अनुचित आक्षेप किसी धर्म्म, मत या सिद्धान्त पर नहीं किया।

वालेंटाइन साहब की पूर्वोक्त पुस्तक के आरम्भ में जो उपोद्घात, अँगरेज़ी में, है उसमें आपने कितनी ही ज्ञातव्य बातों का समावेश किया है। उसमें आपके उदारतापूर्ण विचारों की बड़ी ही भरमार है। आपने तत्त्वज्ञान को सब ज्ञानों से श्रेष्ठ समझकर पहले उसी का विचार किया है। पुस्तक के उत्तरार्द्ध के आरम्भ में आपकी लिखी हुई एक छोटी सी भूमिका, संस्कृत में भी, है। उससे भी आपके हृदय के औदार्य्य का सोता सा बह रहा है। उसका कुछ अंश हम नीचे उद्धृत करते हैं—

"सुनिपुणानां बुद्धिमतां विचारे परस्परविरोधः केवलं दुःख-हेतुः। वादिप्रतिवाद्यभिमतार्थस्याभेदेऽपि यदि तयोर्भाषाभेदमात्रेण भेदावभासः तर्हि सोऽपि तथैव। अन्योन्यमतपरीक्षणात्पूर्वं परस्परनिन्दादिकं निष्फलत्वादनुचितम्। अपि च यत्र केवलं विवदमानयोर्द्वयोरपि भ्रान्तिमूलकविवाददूरीकरणार्थः प्रयत्नो महाफलत्वात्प्रशस्यस्तत्र भूखण्डद्वयनिवासियावद्व्यक्तीनां परस्परं विवाददूरीकरणार्थप्रयत्नः प्रशंसायोग्य इति किं वक्तव्यम्। एतादृशप्रयत्नकारी पुरुषः संपूर्णफलप्राप्तावपि न निन्द्यः। भारतवर्षीयार्यजनानां प्राचीनमतग्रन्थपरिपालनं तत्प्रेम च तेषां महास्तुतिकारणम्। एवं प्रतिदिनं वर्द्धमानस्वमतग्रन्थाभ्यासजनितसततज्ञानवृद्ध्या सन्तुष्यन्तो यूरोपीयलोका अपि न निन्द्याः। यदि कश्चिद् यूरोपीयजनो भारतवर्षीयार्योक्तं वास्तवमपि तदीयव्यवहारं तन्मततत्त्वञ्च यथार्थतोऽविज्ञाय निन्देत्तदनुचितमेव। एवं यदि भारतीयजनो यूरोपीयमतमविज्ञाय निन्देत्तदपि तथैव। एवं चान्यतरभ्रान्तिजनितमतविरोधप्रयुक्तदुःखस्य हेयतया तद्दूरीकरणायावश्यं कश्चिदुपायोचितमतस्वीकारे सति सत्फलासम्भवोऽनीप्सितदुष्टफलसम्भवश्च। अतो विचारिणोर्द्वयोरेकविषये मतभेदे सदसन्निर्णयाय वादः समुचितः। परन्तु यावत्सम्यक् प्रकारेण मतभेदो नावधृतस्तावद्वादोऽपि न समीचीनः। प्रथमतो मतयोर्यथासम्भवं साम्यं निर्णीय तदुत्तरं भेदनिर्णयः कर्तव्यो येन मतैक्ये विवादो न भवेत्।"

इसीलिए आपने यह उभयभाषात्मक न्यायकौमुदी नामक शास्त्र-संग्रह ग्रन्थ लिखकर प्रकाशित किया। आपकी पुस्तक के इस अवतरण में कितनी ही बातें ऐसी हैं जिनसे हम लोगों को बहुत कुछ शिक्षा और उपदेश की प्राप्ति हो सकती है। इस इतने बड़े अवतरण देने का मतलब

यह है कि पाठक बालेंटाइन साहब के उस उद्देश को भी समझ जायँ जिससे प्रेरित होकर उन्होंने यह ग्रन्थ लिखा और साथ ही उनकी संस्कृतज्ञता का अन्दाज़ा भी उन्हें हो जाय। आपकी संस्कृत बड़ी ही सरल और सुबोध है। पुस्तक भर में आपने इसी तरह की प्राञ्जल भाषा लिखी है। आपको संस्कृत में पद्य-रचना का भी अभ्यास था। पाठक कह सकते हैं कि, सम्भव है, उन्होंने इस पुस्तक को किसी बनारसी पण्डित की सहायता से लिखा हो। ऐसी शङ्का के लिए जगह अवश्य है। काशी में, विशेष करके कालेज में, पण्डितों के बीच रहकर उन्होंने पण्डितों से सहायता ली हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। परन्तु बालेंटाइन साहब की संस्कृत पण्डितों की जैसी लच्छेदार संस्कृत नहीं। वह इतनी सरल और स्वाभाविक है कि प्रकाण्ड पाण्डित्य की गन्ध उससे ज़रा भी नहीं आती। वह पुकार-पुकारकर कह रही है कि मैं काशी के पण्डितों की करामात नहीं। इस भीतरी साक्ष्य के सिवा हमारे पास पण्डित मथुराप्रसाद मिश्र का भी साक्ष्य है। वे बालेंटाइन साहब के समय ही में बनारस-कालेज में थे और बालेंटाइन साहब ही की सूचना के अनुसार लघुकौमुदी का अनुवाद उन्होंने हिन्दी में किया था। इस प्रबन्ध के लेखक ने उनके मुख से सुना था कि बालेंटाइन साहब अच्छे संस्कृतज्ञ ही न थे, किन्तु अच्छे संस्कृत-वक्ता और अच्छे संस्कृत-लेखक भी थे।

१८४४ ईसवी में जे० म्यूर साहब बनारस-कालेज के प्रधानाध्यापक थे। वे भी संस्कृत में अच्छी योग्यता रखते थे। यह बात उनके एक ग्रन्थ से प्रमाणित है। यह ग्रन्थ बड़ी-बड़ी पाँच जिल्दों में है। इसका नाम है—"Original Sanskrit Texts on the Origin and History of the People of India, their Religion and Institutions." इसके सिवा बालेंटाइन साहब ने भी म्यूर साहब की

संस्कृतज्ञता और योग्यता की गवाही दी है। अपनी न्यायकौसुदी की अँगरेज़ी-भूमिका में उन्होंने लिखा है—

"Mr. Muir delivered lectures, in Sanskrit, on Moral and Intellectual Philosophy; and the sentiments which he then inculcated have often, since that time, furnished topics for discussion in the College."

म्यूर साहब जब संस्कृत में लेक्चर दे सकते थे तब वे अवश्य ही अच्छी तरह संस्कृत बोल लेते रहे होंगे। यह उनकी संस्कृतज्ञता और सम्भाषणशक्ति का प्रमाण हुआ। यह बात तो डाक्टर टीबो और वीनिस साहब आदि संस्कृत-विद्वानों में भी पाई जाती है। म्यूर साहब में एक और विशेषता थी। वे संस्कृत लिखते भी थे। गद्य ही नहीं, पद्य भी। उनकी लिखी हुई मत-परीक्षा नामक एक बहुत बड़ी पुस्तक संस्कृत-पद्य में है। उससे दो चार श्लोक हम नीचे उद्धृत करते हैं—

यः पूर्वभूतवृत्तान्तः पारम्पर्येण लभ्यते।
स जातु प्रत्ययार्होऽस्ति जातु नास्तीति बुध्यते॥
वृत्तान्तः कश्चिदेको हि सप्रमाणः प्रतीयते।
प्रमाणवर्जितोऽन्यस्तु प्रतिभाति परीक्षणात्॥
अतोऽमुका पुरावृत्तकथा विश्वासमर्हति।
न वेत्येतद्विवेकाय तद्विशेषो विचार्यताम्॥
असौ कथा कदा कुत्र कस्य वक्त्रादजायत।
श्रोतारश्चादिमास्तस्याः कीदृशाः कति चाभवन्॥

इन पद्यों की रचना कह रही है कि ये म्यूर साहब ही के लिखे हुए हैं। अतएव इसमें सन्देह नहीं कि वे संस्कृत बोल भी सकते थे और लिख भी सकते थे।

The Light of Asia, Indian Poetry, Secret of Death आदि पुस्तकों के लेखक सर एडविन आर्नल्ड का नाम पाठकों में से बहुतों ने सुना होगा। आपकी भी गिनती संस्कृतज्ञों में है। १८९६ में आपने चौरपञ्चाशिका का पद्यात्मक-अनुवाद अँगरेज़ी में करके मूल-सहित उसे प्रकाशित किया। परन्तु टाइप में नहीं, लीथो में। प्रत्येक पृष्ठ को आपने अपने ही हाथ से खींचे गये चित्रों से भी अलङ्कृत किया। ऐसा करने में किसी किसी पद्य के भाव को आपने चित्र में भी अलङ्कृत कर दिया। आपकी लिखी हुई चौरपञ्चाशिका की कापी लीथो में छपी हुई हमने खुद देखी और पढ़ी है। आपके नक़ल किये हुए पद्यों में से कई पद्यों में त्रुटियाँ हैं। परन्तु वे क्षम्य हैं।

फ़्रेडरिक पिनकाट, भट्ट मोक्षमूलर और अध्यापक मुग्धानलाचार्य की नागरी-लिपि के नमूने तो "सरस्वती" में निकल ही चुके हैं। डाक्टर ग्रियर्सन भी अच्छी देवनागरी लिपि लिख सकते हैं। उनसे और इन पंक्तियों के लेखक से, एक दफ़े, कविता की भाषा के सम्बन्ध में पत्र-व्यवहार हुआ। इस विषय में आपने अपने हाथ से बाबू हरिश्चन्द्र की सर्वश्रुत सम्मति लिख भेजी थी—"भाव अनूठो चाहिए, भाषा कोऊ होय"

आपकी भी वही राय है जो बाबू हरिश्चन्द्र की थी। डाक्टर साहब अनेक पूर्वी भाषाओं और बोलियों के ज्ञाता हैं। हिन्दी भी आप बहुत अच्छी जानते हैं; परन्तु लिखते नहीं। हमारे प्रार्थना करने पर भी आपने हिन्दी में लेख लिखने की कृपा न की। कुछ भी हो, देवनागरी आप सफ़ाई और शुद्धता के साथ लिख सकते हैं। इसमें सन्देह नहीं।

आर० पी० ड्यूहर्स्ट साहब इन प्रान्तों में सिविलियन हैं। कुछ समय पहले आप रायबरेली में डेपुटी कमिश्नर थे। आप हिन्दी, उर्दू और फ़ारसी के अच्छे पण्डित हैं। शायद आप अरबी भी जानते हैं। बड़े विद्वान्, बड़े विद्याव्यसनी और बड़े पुरातत्वप्रेमी हैं। आपके लेख

एशियाटिक सोसाइटी आदि के जर्नलों में निकला करते हैं। आपकी देवनागरी लिपि बड़ी ही सुन्दर और स्पष्ट होती है। शुद्ध भी होती है। मार्च १९०७ में इस लेखक के पत्र के उत्तर में आपने कृपा करके एक पत्र लिखा था। उसके लिफ़ाफ़े पर अँगरेज़ी के सिवा देवनागरी में भी पता लिखने की आपने कृपा की थी।

जो कुछ यहाँ तक लिखा गया, उससे सिद्ध हुआ कि योरप के विद्वान् यदि अभ्यास करें तो पूर्वी देशों की भाषायें और लिपियाँ उसी तरह लिख सकें जिस तरह कि भारतवासी अँगरेज़ी भाषा और रोमन लिपि लिख सकते हैं।

[अगस्त १९१२

७—अँगरेज़ों का साहित्य-प्रेम

हमारे हिन्दी-साहित्य की दशा बहुत गिरी हुई है। इसका कारण यह है कि हमारे यहाँ के लेखकों, प्रकाशकों और पुस्तक-विक्रेताओं को यथेष्ट धन-प्राप्ति नहीं होती। सर्वसाधारण लोगों में पुस्तक ख़रीदने और पढ़ने का उत्साह और शौक़ नहीं के बराबर है। खोटे-खरे की पहचान करनेवाले समालोचकों का भी अभाव है। पहले तो अच्छी पुस्तकें लिखी ही नहीं जातीं; यदि कोई लिख भी गई तो लेखक को उसकी मिहनत का भरपूर बदला नहीं मिलता; यहाँ तक कि बेचारे प्रकाशक को अपनी लागत तक वसूल करना मुशकिल हो जाता है। पर इँगलेंड की दशा यहाँ की ठीक उलटी है। वहाँ के लेखकों, प्रकाशकों और पुस्तक-विक्रेताओं की हमेशा पाँचों घी में रहती हैं। सर्वसाधारण में पुस्तकें ख़रीदने और पढ़ने का शौक इतना बढ़ा-चढ़ा है कि सिर्फ़ एक ही दिन में किसी किसी पुस्तक की हज़ारों कापियाँ बिक जाती हैं। छोटे-छोटे लेखकों

तक को इतनी काफ़ी आमदनी हो जाती है कि उन्हें दूसरा रोज़गार नहीं करना पड़ता। अच्छे लेखकों की तो बात ही जुदा है। वे तो थोड़े ही दिनों में अच्छे ख़ासे मालदार हो जाते हैं। अँगरेज़ी-साहित्य के उन्नत दशा में होने का यही मुख्य कारण है। एक साहब ने अँगरेज़ी साहित्य के आर्थिक पक्ष को लेकर एक लेख लिखा है। उसमें से मुख्य मुख्य दो-चार बातें हम यहाँ पर लिखते हैं।

इँगलेंड के समालोचकों का यह स्वभाव सा हो गया है कि वे नये ग्रन्थकारों की पुस्तकों की बड़ी कड़ी समालोचनायें करते हैं और पुराने तथा प्रसिद्ध लेखकों को प्रसन्न रखने की चेष्टा किया करते हैं। अँगरेज़ बड़े ही साहित्य-प्रेमी हैं। इसका प्रमाण यह है कि नई पुस्तकें ख़ूब महँगी होने पर भी बहुत बिकती हैं। और एक-एक पुरानी पुस्तक के सैकड़ों सस्ते से सस्ते संस्करण छपते हैं। जो चीज़ अँगरेज़ों को पसन्द आ गई उसके लिए ख़र्च करने में वे बड़ी दरिया-दिली दिखलाते हैं। वे आश्चर्यजनक, मनोरञ्जक और शिक्षाप्रद बातें बहुत पसन्द करते हैं। इसीसे वे खेल-तमाशा, शिकार, अगम्य देशों की यात्रा और जीवन-चरित-सम्बन्धी पुस्तकों के बड़े शौक़ीन हैं।

इँगलेंड में ऐसे बहुत से पुस्तकालय हैं जो नियत चन्दा देने पर अपने मेम्बरों को पुस्तकें पढ़ने को देते हैं। कैसी ही महँगी कोई पुस्तक क्यों न हो, ये उसकी हज़ारों कापियाँ लेने का ठेका, उसके छप जाने के पहले ही, ले लेते हैं। इससे पुस्तकें ख़ूब महँगी हो जाती हैं। अकेले 'टाइम्स' के पुस्तकालय के ८०,००० चन्दा देनेवाले मेम्बर हैं। इँगलेंड के वर्त्तमान प्रसिद्ध उपन्यास-लेखकों में से किसी का उपन्यास ज्यों ही छपा त्योंहीं अपने मेम्बरों के लिए बारह हज़ार कापियाँ वह तुरन्त ले लेता है। हमारे पाठकों को मालूम है कि महारानी विक्टोरिया के पत्र हाल ही में पुस्तकाकार प्रकाशित हुए हैं। यह हद से ज़ियादा महँगी पुस्तक है।

तिस पर भी उक्त पुस्तकालय ने अकेले ही इस पुस्तक की ४५,००० रुपये की क़ीमत की जिल्दें ख़रीद ली हैं।

पर जैसे नई पुस्तकें अधिक से अधिक महँगी होती जाती हैं वैसे ही पुरानी पुस्तकों के सस्ते से सस्ते संस्करण, सैकड़ों की तादाद में, निकलते चले आते हैं। अँगरेज़-लेखकों और प्रकाशकों ने अपने तजरुबे से यह नतीजा निकाला है कि सस्ती पुस्तकों से लोगों को पढ़ने का चसका जहाँ एक बार लग गया तहाँ वे नई पुस्तकें, महँगी होने पर भी, ख़रीदने को मजबूर होते हैं।

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि सारे साहित्य-व्यापार की जड़ लेखक ही हैं। उन्हीं की क़दर या नाक़दरी पर साहित्य की उन्नति या अवनति का दारोमदार है। यह कहा जा चुका है कि इँगलैंड के लेखक ख़ूब रुपया पैदा करते हैं। इसके कुछ उदाहरण भी सुन लीजिए। वहाँ "स्ट्रैंड" और "ब्लैक उड" नामक दो प्रसिद्ध मासिक पत्र हैं। वे अपने लेखकों को ४५ से ७५ रुपये तक प्रति हज़ार शब्दों के देते हैं। मामूली मासिक पत्र भी, कम से कम, अपने लेखकों को बत्तीस रुपये प्रति हज़ार शब्दों के देते हैं। अधिक से अधिक की बात ही न पूछिए। उपन्यास-कारों को प्रति शब्द के हिसाब से उजरत दी जाती है। जब, १८९४ में, स्टेविन्सन नामक उपन्यास-लेखक मरा तब हिसाब लगाने से मालूम हुआ कि अपने जीवन भर में जितने शब्द उसने लिखे, छः आने प्रति शब्द के हिसाब से उसको उजरत मिली। पर आज-कल यह दर कुछ बहुत नहीं समझी जाती। 'पियर्सन्स मैगेज़ीन' के प्रकाशक ने एक क़िस्से के लिए उसके लेखक किपलिंग साहब को बारह आने प्रति शब्द दिये थे। सर आर्थर केनन डायल जासूसी क़िस्से लिखने में बड़े सिद्धहस्त हैं। उन्होंने उक्त मासिक पत्र में जो आख्यायिकायें लिखी हैं उनमें से प्रत्येक आख्या-यिका का पुरस्कार उनको ११,२५० रुपये मिले हैं। अर्थात् प्रति शब्द

सवा दो रुपये, या प्रति पंक्ति साढ़े बाईस रुपये !!! वेल्स नामक एक साहब अपने लेखों के लिए प्रति एक हज़ार शब्दों के ४९५ रुपये पाते हैं। हम्फ़्री वार्ड नाम की एक मेम साहबा को अमेरिका की मासिक पुस्तकें उनके उपन्यासों की लिखाई एक लाख शब्दों के डेढ़ लाख रुपये देती हैं !!!

मतलब यह कि इस समय इँगलैंड के ग्रन्थकारों की दशा बहुत अच्छी है। ईश्वर करे भारत के ग्रन्थकारों को भी ऐसे सुदिन देखने का सौभाग्य प्राप्त हो !

[सितम्बर १९०८

८—शब्दार्थ-विचार

संस्कृत के अनेक ग्रन्थों के आधार पर, पण्डित गणेश सदाशिव लेले ने, मराठी में, साहित्य-शास्त्र-सम्बन्धी एक ग्रन्थ लिखा है। उसमें शब्द और अर्थ का, साहित्य-शास्त्र के नियमों के अनुसार, थोड़े में, अच्छा वर्णन है। यह लेख, प्रश्नोत्तर के रूप में, उसी के कुछ अंश का भावार्थ है।

प्रश्न—शब्द किसे कहते हैं ?

उत्तर—जिससे अर्थ का बोध हो ऐसे एक अक्षर या अनेक अक्षरों के समुदाय को शब्द कहते हैं।

प्र०—अर्थ-बोधकता के विचार से कितने प्रकार के शब्द होते हैं ?

उ०—तीन प्रकार के—वाचक, लक्षक और व्यञ्जक।

प्र०—वाचक शब्दों का क्या लक्षण है ?

उ०—जिस शब्द के जिस अर्थ का नियमपूर्वक बोध होता है वह शब्द उस अर्थ का वाचक कहलाता है। और जो अर्थ उस वाचक शब्द से बोधित होता है वह अर्थ उस शब्द का वाच्यार्थ कहलाता है। उसी का नाम शक्यार्थ, मुख्यार्थ, या स्वार्थ भी है। इस व्यापार

का नाम शक्ति या अभिधा-वृत्ति है। उदाहरण—"घट" शब्द से नियमपूर्वक एक पात्र-विशेष का बोध होता है। इसलिए 'घट' पात्र-विशेष का वाचक और पात्र-विशेष उसका वाच्यार्थ है।

प्र०—लक्षक शब्द किसे कहते हैं?

उ०—जब किसी शब्द के वाच्यार्थ (अर्थात् मुख्यार्थ) से वाक्य का मतलब ठीक-ठीक समझ में नहीं आता तब उस शब्द का कोई और अर्थ ऐसा कल्पित कर लिया जाता है जिससे वाक्य का मतलब ठीक-ठीक निकल आवे। इस तरह का कल्पित अर्थ उस शब्द का लक्ष्यार्थ और वह शब्द उस अर्थ का लक्षक कहलाता है। इस शब्द-व्यापार या शब्द-शक्ति का नाम लक्षणावृत्ति है। उदाहरण—"प्लेग के डर से सारा शहर भाग गया"। इस वाक्य में "शहर" शब्द का वाच्य, अर्थात् मुख्य अर्थ प्रदेश-विशेष है। परन्तु किसी प्रदेश का भाग जाना असम्भव बात है। इसलिए "शहर" शब्द से शहर में रहनेवाले आदमियों का बोध होता है। अतएव शहर शब्द शहर में रहनेवाले आदमियों के अर्थ का लक्षक और शहर में रहनेवाले आदमी उसका लक्ष्यार्थ है।

रूढ़ि और प्रयोजन के अनुसार लक्षणा होती है। जो लक्षणा रूढ़ि के अनुसार होती है उसे निरूढ़लक्षणा और जो प्रयोजन के अनुसार होती है उसे प्रयोजनवती लक्षणा कहते हैं। पूर्वोक्त उदाहरण में जो लक्षणा है वह निरूढ़-लक्षणा है; क्योंकि वह रूढ़ि के अनुसार हुई है।

प्र०—व्यञ्जक शब्द किसे कहते हैं?

उ०—वाच्य और लक्ष्य अर्थों के सिवा एक तीसरे ही अर्थ की प्रतीति जिस शब्द से होती है वह शब्द उस अर्थ का व्यञ्जक और वह अर्थ उस शब्द का व्यंग्यार्थ कहलाता है। उदाहरण—"गोविन्द स्वामी की कुटी, प्रयाग में, त्रिवेणी पर है।" यहाँ त्रिवेणी शब्द के वाच्यार्थ,

जल-प्रवाह, के ऊपर कुटी का होना सम्भव नहीं। इसलिए लक्षणा करके त्रिवेणी शब्द से त्रिवेणी के तीर का अर्थ ग्रहण करना पड़ता है। त्रिवेणी के तट पर होने के कारण कुटी की शीतलता और पवित्रता की प्रतीति जो मन में होती है वह त्रिवेणी शब्द का व्यंग्यार्थ है और त्रिवेणी शब्द उस व्यंग्यार्थ का व्यञ्जक है। इस शब्द-व्यापार का नाम व्यञ्जनावृत्ति है। इस उदाहरण में जो लक्षणा की गई है वह कुटी के शीतलत्व और पवित्रत्व की विशेष प्रतीति होने के लिए है।

प्र०—कितनी तरह से लक्षणा होती है?

उ०—दो तरह से—वाच्यार्थ के सादृश्य के अनुसार और वाच्यार्थ के सम्बन्ध के अनुसार। उदाहरण—"देवदत्त, तुम आदमी नहीं, बैल हो।" यहाँ, बैल के बुद्धि-मान्द्य आदि गुण, अर्थात् धर्म, देवदत्त में होने से यह अर्थ हुआ कि यह बैल—अर्थात् बैल के सदृश है। इसलिए इस लक्षणा का नाम सादृश्य-निबन्धना है। इसी को कोई-कोई गौणी-वृत्ति भी कहते हैं।

"प्लेग के डर से सारा शहर भाग गया"—इस उदाहरण में शहर शब्द से शहर-सम्बन्धी आदमियों का अर्थ, और "गोविन्द-स्वामी की कुटी, प्रयाग में, त्रिवेणी पर, है"—इसमें त्रिवेणी शब्द से त्रिवेणी-सम्बन्धी तट का अर्थ ग्रहण करना पड़ता है। इसलिए ये दोनों लक्षणायें सम्बन्ध-नियन्धना है।

प्र०—सम्बन्ध-निबन्धना लक्षणा कितने प्रकार की होती है?

उ०—दो प्रकार की—जहत्स्वार्था और अजहत्स्वार्था।

प्र०—दोनों का अलग-अलग लक्षण क्या है?

उ०—जहाँ वाच्यार्थ का बिलकुल ही त्याग होता है वहाँ जहत्स्वार्था होती है। जैसे, "प्लेग के डर से सारा शहर भाग गया"—इस उदाहरण

में शहर शब्द के वाच्यार्थ, प्रदेश-विशेष, का सर्वथा त्याग हो कर सिर्फ उससे सम्बन्ध रखनेवाले आदमियों का अर्थ लिया गया। इसलिए यह जहत्स्वार्था हुई। जहाँ लक्ष्यार्थ के साथ वाच्यार्थ का भी ग्रहण होता है वहाँ अजहत्स्वार्था होती है। जैसे "यहाँ पर दही रक्खा है। बिल्ली न आने पावे।" इस उदाहरण में बिल्ली शब्द से एक प्राणि-विशेष से भी मतलब है और उसके सिवा कुत्ता या कौवा इत्यादि दही खानेवाले और भी प्राणियों से मतलब है, क्योंकि कहनेवाले की यह इच्छा नहीं कि सिर्फ बिल्ली ही दही के पास न आने पावे, और प्राणी आवें तो आने दो। अतएव यहाँ पर अजहत्स्वार्था नामक सम्बन्ध-निबन्धना हुई।

कोई-कोई, विशेष कर के वेदान्ती लोग, जहदजहत्स्वार्था नामक भी लक्षणा मानते हैं। उसमें वाच्यार्थ के कुछ अंश का त्याग होकर अवशिष्ट अंश लक्ष्यार्थ के साथ अपेक्षित अर्थ का बोध कराता है। यह बहुत सूक्ष्म और क्लिष्ट-कल्पना है। इसके उदाहरण की ज़रूरत नहीं।

प्र०—जैसे शब्द में व्यञ्जकता होती है वैसे ही क्या अर्थ में भी होती है?

उ०—हाँ, कभी-कभी अर्थ में भी व्यञ्जकता होती है। जैसे "अरे मार डाला!" इस वाक्य से यह अर्थ निकलता है कि बचाने के लिए कोई दौड़ो। अथवा—"अरे दस बज गये!" यह कहने से सूचित होता है कि स्कूल या दफ्तर इत्यादि जाने का समय हो गया।

प्र०—लक्षणा के क्या और भी कोई प्रकार हैं?

उ०—हैं। लक्षित-लक्षणा और विपरीत-लक्षणा इत्यादि और भी इसके कई प्रकार हैं। उदाहरण—"द्विरेफ" शब्द से भौंरे के अर्थ का बोध होने से लक्षित-लक्षणा हुई। अर्थात् जिसमें दो रेफ हैं, ऐसे द्विरेफ शब्द ने भौंरे को लक्षित करके उसके अर्थ का बोध करा दिया। "आप बड़े होशियार हैं"—इस वाक्य में जहाँ "होशि-

यार" शब्द से "बेवक़ूफ़" का अर्थ अपेक्षित होता है वहाँ विपरीत (उलटी) लक्षणा होती है।

बहुत से शब्द भी लाक्षणिक होते हैं; जैसे जोड़-तोड़। इसका वाच्यार्थ है जोड़ना और तोड़ना। परन्तु लक्षणा से इसका अर्थ प्रबन्ध करना या मेल मिलाना आदि होता है। उदाहरण—"शिवदत्त, आजकल, एक बहुत बड़ा ठेका लेने के इरादे से जोड़-तोड़ लगा रहे हैं।" इस तरह के बहुत से रूढ़ शब्द व्यवहार में आते हैं। जैसे "दवा-पानी" में पानी शब्द से दवा ही के समान और चीज़ों का बोध होता है। "रोना-पीटना" में पीटना शब्द से भी रोने ही का बोध होता है। "हमने तुम्हें सौ दफ़े मना किया कि तुम ऐसा काम मत करो"—इसमें सौ दफ़े से सिर्फ़ बहुत दफ़े का अर्थ लक्षित होता है।

[नवम्बर १९०६

९—हिन्दी-शब्दों के रूपान्तर

[बात-चीत]

गणेशदत्त—मेरी नींद-भूख जाती रही है।

देवदत्त—क्यों ?

ग०—हिन्दी के कुछ लेखक हिन्दी के कुछ शब्दों की बड़ी ही दुर्दशा करते हैं। वे उन्हें एक रूप में नहीं लिखते। कोई 'दिये' लिखता है, कोई 'दिए'। इस विषमता ने मेरे उदर में शूल उत्पन्न कर दिया है।

दे०—कहिए, इसका क्या इलाज किया जाय ?

ग०—मेरा बनाया एक नियम या सूत्र जारी करा दीजिए। उसके अनुसार काम होता देख मेरा शूल दूर हो जायगा और फिर मैं पूर्ववत् खाने-पीने लगूँगा। शब्दों में एक-रूपता भी आ जायगी।

दे०—अपना सूत्र सुनाइए।

ग०—सुनिए—किसी शब्द का कोई रूप यदि स्वरान्त या व्यञ्जनान्त किये बिना लिखा न जा सके, तो उस शब्द के अन्यान्य रूप भी क्रमानुसार स्वरान्त या व्यञ्जनान्त होंगे।

दे०—सूत्र तो आपका बड़ा अलबेला है। शास्त्रों में सूत्र का जो लक्षण लिखा है उससे आपका सूत्र कोसों इधर-उधर भाग रहा है। यह उसका अलबेलापन नहीं तो क्या है। अब या तो आपका यह नियम ही रहे या शास्त्रोक्त लक्षण ही। दोनों नहीं रह सकते।

ग०—मेरे नियम में दोष क्या है ?

दे०—दोष बताऊँगा; पर पहले आप यह तो बताइए कि स्वरों और व्यञ्जनों के सिवा क्या तीसरे प्रकार के भी कोई वर्ण देवनागरी वर्णमाला में हैं ?

ग०—मैंने कब कहा कि तीसरे प्रकार के भी कोई वर्ण हैं।

दे०—नहीं कहा ? तो फिर—"किसी शब्द का कोई रूप यदि स्वरान्त या व्यञ्जनान्त किये बिना लिखा न जा सके"—इसका क्या अर्थ ? वर्णों के दो ही भेद हैं—स्वर और व्यञ्जन। शब्दों और शब्दों के रूपान्तरों के अन्त में इन में से एक अवश्य ही रहेगा। इस दशा में, "यदि न लिखा जा सके" के क्या मानी ? सूत्रों में इस प्रकार के निरर्थक और सन्देह-जनक वाक्य नहीं रहते। यह दोष है। समझे।

ग०—दोष सही। नियम की भाषा पीछे ठीक कर ली जायगी। मतलब की बात कहिए। मेरी प्रयोजन-सिद्धि के सहायक हूजिए।

दे०—जिस बात से आप अपना प्रयोजन सिद्ध करना चाहते हैं उसकी जड़ ही हिल रही है। आपका अर्ज़ीदावा ही ग़लत है। इस कारण मुक़द्दमे का फ़ैसिला कभी आपके अनुकूल नहीं हो सकता। पेड़ की जड़ को पहले मज़बूत कीजिए। तब उससे फूल और फल पाने की आशा रखिए।

ग०—अच्छा, मेरी ग़लती बताइए तो। जड़ की कमज़ोरी मुझे दिखा तो दीजिए। शान्त भाव से विचार कीजिए।

दे०—मैंने तो ज़रा भी अशान्ति नहीं दिखाई। किसी की ग़लती बताना यदि अशान्ति उत्पन्न करना हो, तो इस मामले को यहीं रहने दीजिए। न आप मुझसे कुछ पूछेंगे, न मुझे आपकी ग़लती दिखाने का मौक़ा मिलेगा।

ग०—नहीं, मैं ग़लती बताने से अप्रसन्न न हूँगा। आप मेरा भ्रम निःसङ्कोच होकर दूर करते चलिए।

दे०—बहुत अच्छा। तो मैं अब आपके बनाये हुए नियम के अनुसार शब्दों का रूपान्तर करता हूँ। देखिए, कैसा तमाशा होता है—नया—शब्द स्वरान्त है। आपके नियमानुसार, अन्त में स्वर रखने पर, उसके दो रूप सिद्ध हुए—नई और नए। मंज़ूर है!

ग०—आप की समझ की बलिहारी! जनाब-आली, 'नया' शब्द स्वरान्त नहीं व्यञ्जनान्त है। देखते नहीं, उसके अन्त में 'या' है। क्या इतना भी नहीं जानते कि 'या' व्यञ्जन है? मेरे नियम के अनुसार 'नया' के दूसरे दो रूप हुए—'नयी' और 'नये'।

दे०—इन्द्र, चन्द्र और पाणिनि आदि ही का नहीं, महेश्वर तक का आपने अपमान किया। आप इस विषय में विवाद या शास्त्रार्थ करने और नियम बनाने के अधिकारी नहीं। जिसे स्वर और व्यञ्जन का भेद तक मालूम नहीं उसके साथ शब्दों के रूपान्तरों का विचार करना समय को व्यर्थ नष्ट करना है। 'या' के उत्तरार्द्ध में 'आ' स्वर है। वह य—व्यञ्जन और आ—स्वर के मेल से बना है। अतएव वह स्वरान्त ही है, व्यञ्जनान्त नहीं।

ग०—क्षमा कीजिए। मैंने ज़रूर ग़लती की। मुझे अब आप अपना शिष्य समझिए और शिष्यवत् मेरा शासन करते हुए मेरे निर्मित नियम पर विचार कीजिए।

दे०—विचार करूँ तो क्या करूँ? आपके नियम में कुछ जान भी हो। वह तो अव्याप्ति, अतिव्याप्ति आदि दोषों का आकर हो रहा है। आपके नियम का एक अंश है—"किसी शब्द का कोई रूप"। बताइए, आप शब्द किसे कहते हैं? आपका 'नया' यदि शब्द की परिभाषा के भीतर है, तो 'नई' क्या उसके बाहर है? फिर

'नया' को इतना महत्त्व क्यों ? जैसे 'नया' एक शब्द है, वैसे ही 'नई' भी है। देखिए, आपके नियम में फिर भी एक दोष निकल आया। 'नया' को बहुवचन में आप 'नये' लिखिए। पर कृपा करके 'नई' को 'नयी' लिखने का साहस न कीजिए। 'नई' पर 'नया' का कुछ भी प्रभुत्व नहीं। वह तो एक जुदा शब्द है। अतएव आप अपने नियम के फन्दे में डालकर लोगों से नयी, नयियाँ, नयियों को, नयिओं ने इत्यादि रूप लिखाने का द्राविड़ी प्राणायाम न कराइए। दया कीजिए। व्यञ्जनों पर स्वरों का प्रभुत्व है। जो काम अकेले एक स्वर—ई—से हो सकता है उसे करने के लिए 'य्' को भी क्यों आप दिक़ करना चाहते हैं ?

ग०—अनेक बड़े-बड़े लेखक 'नयी' लिखते हैं। क्या वे सभी व्याकरण से अनभिज्ञ हैं ?

दे०—आप विचार करने चले हैं या औरों के व्याकरणज्ञान की माप ? मैं मानता हूँ कि भाषा-रूप सागर का बहाव व्याकरण की दीवार से नहीं रुक सकता। यदि सभी बड़े-बड़े लेखक 'नयी' लिखने लगेंगे तो व्याकरण रक्खा रहेगा; रिवाज की जीत होगी। परन्तु जब तक ऐसा नहीं हुआ तब तक तो आप अपना नियम सँभाल कर बनाने की कृपा कीजिए और प्राकृतिक नियमों का गला न घोंटिए।

ग०—अच्छा, 'लिया' का बहुवचन 'लिये' लिखा जा सकता है, या नहीं ?

दे०—हाँ, लिखा जा सकता है।

ग०—तो फिर 'इसलिए' लिखना ग़लत है ?

दे०—क्यों ?

ग०—इस कारण कि उसमें भी 'य' की आवश्यकता है।

दे०—आवश्यकता किसे कहते हैं ?

ग०—'लिया' का बहुवचन 'लिये' हुआ न ? जैसा उसका उच्चारण वैसा ही 'इसलिए' के 'लिए' का भी।

दे०—आवश्यकता का लक्षण आपने अच्छा बताया ! यदि उच्चारण की अनुरूपता के आधार पर ही शब्दों के रूपान्तर लिखे जाने चाहिए तो 'लिये', 'दिये', 'किये' आदि रूप लिखना आप आज से छोड़ दीजिए। क्योंकि 'लिए', 'दिए', 'किए' आदि रूप लिखने से भी उच्चारण में भेद नहीं पड़ता। इन पिछले रूपों में 'ए' स्वर का प्रयोग होता है। और स्वर ही प्रधान वर्ण हैं। अतएव यही रूप लिखना अधिक युक्तिसङ्गत है। हिन्दी, नहीं नागरी, की एक बहुत बड़ी सभा ने, इसी कारण, इस विषय का एक नियम ही बना दिया है। बहुसम्मति से उसकी आज्ञा है कि जहाँ स्वर से काम निकलता हो वहाँ व्यञ्जन न रखना चाहिए। वह 'दिए', 'किए', 'लिए' ही लिखना शुद्ध समझती है।

ग०—अच्छा तो आपकी क्या राय है ?

दे०—सुनिए। 'लिया' भूतकालिक क्रिया है। उसका बहुवचन यदि 'लिये' लिखा जाय तो हर्ज नहीं, क्योंकि 'लिये' का 'लिया' से कुछ सम्बन्ध है। परन्तु 'इसलिए' तो अव्यय है। 'लिया' से वह कुछ भी सरोकार नहीं रखता। आप 'इसलिया' तो कभी लिखते ही नहीं। अतएव 'इसलिये' न लिखकर आप आज से 'इसलिए' ही लिखा कीजिए।

ग०—अच्छा 'चाहिये' लिखा करूँ या 'चाहिए'।

दे०—यदि 'लिया' की तरह आप कभी 'चाहिया' भी लिखते हों तो खुशी से 'चाहिये' लिखा कीजिए; अन्यथा 'चाहिए'। जो कुछ मैंने ऊपर कहा उस पर यदि आपने ध्यान दिया होता तो ऐसा प्रश्न ही आप न करते।

गा०—'कहलाया' में 'या' है। परन्तु कुछ लोग उसके रूप का ख़याल न करके 'कहलाएगा' लिखते हैं, 'कहलायेगा' नहीं। एकार-युक्त रूप तो सरासर ग़लत मालूम होता है।

दे०—जो स्वर और व्यञ्जन का भेद नहीं जानता वह सही को ग़लत और ग़लत को सही यदि कह दे तो क्या आश्चर्य है?

गा०—मैं अपनी कमज़ोरी समझ गया। अब उस बात की याद दिला कर आप क्यों मुझे लज्जित करते हैं। मेरा बनाया हुआ नियम अवश्य ही सदोष है। यदि उसके अनुसार शब्दों के रूपान्तर किये जायँगे तो पहले तो हिन्दी में व्यञ्जनान्त शब्द ही बहुत थोड़े मिलेंगे और जो मिलेंगे भी उनके व्यञ्जनान्त रूपान्तर ही न हो सकेंगे।

दे०—मुझे यह जानकर बहुत सन्तोष हुआ कि आपको अपने बनाये नियम की कमज़ोरी मालूम हो गई। अच्छा, सुनिए। 'कहलाया' का 'कहलाएगा' पर रत्ती भर भी ज़ोर नहीं—'कहलाया' की कुछ भी सत्ता 'कहलाएगा' पर नहीं। दोनों 'कहलाना' क्रिया के भिन्न-कालवाची रूपान्तर हैं। और 'कहलाना' में 'या' या 'य' की गन्ध भी नहीं। 'कहलाया' में 'या' उच्चारण के अनुरूप है। आप चाहें तो उसका बहुवचन 'कहलायें' लिख सकते हैं। पर 'कहलाएगा' के 'ए' की जगह 'ये' को दे डालने का आपको क्या अधिकार? 'कहलाएगा' तो अन्यकालवाची एक पृथक् रूप है। उस पर यदि किसी की कुछ सत्ता है तो 'कहलाना' की है, 'कहलाया' की नहीं। जो काम 'ए' से हो जाता है उसके लिए 'य्' को भी पकड़ना कहाँ का न्याय है।

गा०—संस्कृत में तो इस तरह का ग़दर नहीं। वहाँ तो जो वर्ण किसी शब्द के एक रूप में रहता है वही अन्य रूपों में भी रहता है।

दे०—संस्कृत का आप नाम न लें। बात हिन्दी की हो रही है, संस्कृत की नहीं। संस्कृत का अनुकरण करने से काम न चलेगा। संस्कृत में तो नियम के भीतर नियम और अपवाद के भीतर अपवाद हैं। वह तो विचित्रताओं की खान है। संस्कृत के आप पीछे पड़ेंगे तो, 'दाराः' शब्द से उल्लिखित होने पर, आपकी पत्नी आपका स्त्रीत्व खोकर पुँस्त्व को प्राप्त हो जायगी। इसके सिवा एक होने पर भी उसे अनेकत्व प्राप्त हो जायगा; और, आपके सुहृद् सखाराम 'मित्र' बनकर पुँस्त्व से हाथ धो बैठेंगे।

ग०—यह तो लिङ्ग और वचन के भेद की बात हुई। क्रियापदों में तो यह बात नहीं होती। उनके रूपान्तरों में धातु या क्रियापद-गत वर्णों को छोड़कर अन्य वर्ण नहीं आ जाते।

दे०—आप अनधिकार चर्चा कर रहे हैं। संस्कृत में जो कुछ होता है उसका यदि शतांश भी हिन्दी में होने लगे तो आप घड़ी भर में पिंडी बोल जायँ और हाथ से क़लम रख दें। संस्कृत में एक धातु है—इ। उसके एक प्रकार के भूतकालिक क्रियापद होते हैं—इयाय, ईयतुः, ईयुः। अब देखिए इन में कितने नये-नये वर्ण आ गये। 'व्यपेयाताम्' भी इसी धातु का एक उपसर्ग-विशिष्ट रूप है। इसमें तो मूल धातु—इ—का कहीं पता तक नहीं। 'दिया' का बहुवचन यदि किसी ने 'दिए' लिख दिया तो आपके पेट में दर्द होने लगता है, 'इयाय' का बहुवचन 'ईयुः' देखकर नहीं मालूम आपको कौन व्याधि आ घेरेगी।

ग०—कुछ भी हो, इस प्रकार की विषमता से हिन्दी को बचाना ही अच्छा है। हिन्दी को हम लोग राष्ट्र-भाषा बनाना चाहते हैं। उसकी क्लिष्टता दूर करने के लिए उसके हिज्जों में समता होनी चाहिए। तभी अन्य-प्रान्तवाले उसे सीखेंगे।

दे०—अँगरेज़ी और संस्कृत को भी आप किसी लायक़ समझते हैं या नहीं? उनकी एकरूपता या विषमता पर भी कभी विचार किया है? अँगरेज़ी तो विषमताओं और विलक्षणताओं की खानि ही है। संस्कृत में भी इन गुणों या दोषों की कमी नहीं। उसके अनेक शब्द ऐसे हैं जिन्हें, विभक्तियों के पेंच में पड़कर, दो ही दो नहीं, तीन-तीन तक रूपान्तर धारण करने पड़ते हैं। तिस पर भी हज़ारों साल से लोग उसे सीखते आते हैं। अनन्त-ग्रन्थ-राशि उसमें तैयार हो चुकी है। उसका अधिकांश नष्ट हो जाने पर भी, लाखों ग्रन्थ अब तक मौजूद हैं। हिज्जों की विषमता ने उसकी साहित्य-वृद्धि में बाधा नहीं डाली। फिर आप हिन्दी की इस तुच्छ विषमता से क्यों इतना भयभीत हो रहे हैं? संस्कृत देववाणी कहाती है। उसका संस्कार बड़े-बड़े ऋषियों और मुनियों ने किया है। उसको आप हिन्दी की जननी कहने में तो गर्व करते हैं, पर उसकी विषमता स्वीकार करते घबराते हैं। 'कोश' और 'कोष', 'वैय्याकरण' और 'वैयाकरण', 'शारदा' और 'सारदा' आदि शब्दों के दो-दो रूप होने से संस्कृत को कितनी हानि पहुँची है? कभी इस बात को भी आपने सोचा है? 'दिया', 'किया', 'लिया' आदि के रूप, बहुवचन में, यदि कोई 'दिए', 'किए', 'लिए' ही लिखे तो क्या इतनी ही द्विरूपता से हिन्दी की सारी उन्नति रुक जायगी और उसमें अनन्त क्लिष्टता आ जायगी? जो भारतवासी बीस-बीस साल तक कठिन परिश्रम करके अँगरेज़ी और संस्कृत के सदृश महाजटिल और क्लिष्ट भाषाओं के आचार्य हो जाते हैं वे दस-पाँच शब्दों की द्विरूपता देखकर ही हिन्दी से डर जायँगे, इस बात को आप अपने ध्यान तक में न लाइए।

ग०—हिन्दी की उन्नति रुके या न रुके, बात यह है कि यदि सब लोग

मिलकर किसी शब्द का कोई एक रूप निश्चित कर लें तो क्यों व्यर्थ में उसके दो रूप रहें।

दे०—सब लोग? सौ, दो सौ, हज़ार, लाख? आख़िर कितने? सारे हिन्दी-भाषा-भाषियों को तो आप अपने नियम से जकड़ सकेंगे नहीं। आपके अख़बारों और पुस्तकों की पहुँच होगी कहाँ तक और आपके नियम का पालन करेंगे कितने लोग? लाखों बच्चे मदरसों में शिक्षा पा रहे हैं। क्या उन सब से आप ज़बरदस्ती नियम का पालन करावेंगे? भाई साहब, नियम बनाकर भाषा का प्रतिबन्ध नहीं किया जा सकता। भाषा का रुख़ और उसके प्रत्येक अङ्ग के भेद-भाव देखकर तदनुकूल नियमों और व्याकरणों की रचना की जाती है। भाषा कुछ आपके नियमों की अनुचरी नहीं। व्याकरण अलबत्ते उसका अनुचर है। लेखकों की प्रवृत्ति, भाषा का प्राकृतिक झुकाव और रिवाज आदि उसे जिस तरफ़ ले जाते हैं उसी तरफ़ वह जाती है। व्याकरण को ग़रज़ हो तो उसके पीछे-पीछे जाय और नियम बनावे। संस्कृत-व्याकरण के प्रणेताओं को तो एक-एक शब्द के लिए भी अलग-अलग नियम बनाने पड़े हैं। यदि 'दिया' का बहुवचन 'दिए' लिखने का रवाज हो जाय, अथवा कुछ लेखक उसे इसी रूप में लिखें, तो व्याकरण बेचारे को झख मारकर ऐसे रूपों की घोषणा करनी ही पड़ेगी।

ग०—आप तो हठ कर रहे हैं। 'दिये', 'लिये', 'किये' आदि लिखने से आपकी हानि ही कौन सी है? आप यदि इन रूपों को इसी तरह लिखा करें तो आपकी देखादेखी और भी ऐसा ही करने लगेंगे। फल यह होगा कि इनके रूपों में समानता आ जायगी।

दे०—आप मेरी बात न कहिए। समुदाय की बात कहिए। मेरी-तेरी का भाव अच्छा नहीं। मैं क्या लिखता हूँ और कैसे लिखता हूँ,

सो आप मेरे लेख देखकर जान सकते हैं। मैं ज़रा भी हठ नहीं करता। मैं कहता हूँ कि आपका प्रयास बिलकुल ही व्यर्थ है। आज आप यह कहते हैं, कल कहेंगे 'इँगलेंड' न लिखकर हमारी तरह 'इङ्गलेंड' लिखा करो; परसों कहेंगे 'गवर्णमेण्ट' और 'लण्डण' लिखना ही शुद्ध है। अच्छा, यह तो बताइए, अधिकांश लेखक पञ्चम वर्ण का काम अनुस्वार से लेते हैं। आपके व्याकरण से तो ऐसा करना ग़लत है। फिर इसके लिए आपने कोई नियम क्यों नहीं बनाया ?

गा०—अनुस्वार लिखना तो विकल्प से रायज हो गया।

दे०—खूब कहा। रिवाज में बड़ी शक्ति है। अनुस्वार की तरह आप 'दिए', 'लिए' आदि रूपों को भी विकल्प से रायज समझिए। जो लोग इस तरह के रूप लिखते हैं उन्हें लिखने दीजिए। आप न लिखिए। आप अपनी पसन्द के लिखें। जो लोग 'दे दी' के बदले 'दे दियी' और 'ले ली' के बदले 'ले लियी' लिखते हैं उन्हें भी वैसा लिखने को कोई मना नहीं कर सकता। व्याकरण बनानेवालों को हज़ार दफे ग़रज़ होगी तो वे ऐसे रूपों का भी उल्लेख अपने ग्रन्थों में करेंगे। क्योंकि लेखक उन्हें जान-बूझकर और सही समझकर वैसा लिखते हैं। मेरी राय में व्याकरण के नियमों के सुभीते के लिए पहले ही से शब्दों को एकरूपता देने की चेष्टा बड़ी ही अनोखी बात है। महाराज, रिवाज भी कोई चीज़ है। उसके सामने नियम-उवम सब रक्खे रहते हैं। भारत के अन्य सारे प्रान्तों के लोग सिर ढकते हैं, पर बङ्गाली खुले ही सिर रहते हैं। यह रिवाज ही की कृपा का फल है।

गा०—आप तो रिवाज के बड़े ही भक्त मालूम होते हैं।

दे०—अनुस्वार के सम्बन्ध में आपने भी तो रिवाज को मान दिया

है। रिवाज का क़ायल मैं ज़रूर हूँ। पर आप तो मुझसे भी बढ़कर उसके भक्त हैं। इस लिपि-विषयक छोटे से रिवाज को मानने ही में आप कुछ हिचकिचाते हैं। और बड़े-बड़े रिवाजों के सामने आप आँख मूँदकर सिर झुकाते हैं।

ग०—ज़रा स्पष्ट करके कहिए।

दे०—क्षमा कीजिए। विषयान्तर होगा। पर आप ही की आज्ञा से। आप पुराने विचारों के दृढ़ सनातन-धर्मानुयायी हैं न?

ग०—निःसन्देह।

दे०—तो फिर आप छोटी उम्र में लड़कियों का विवाह कर देने, स्त्रियों को स्कूलों और कालेजों से दूर रखने, विधवाओं से ब्रह्मचर्य पालन कराने और नीच जातियों को अस्पृश्य समझने के रिवाज के पक्षपाती हैं या नहीं?

ग०—हूँ तो अवश्य; पर वे सब रिवाज नहीं। उनके लिए शास्त्राज्ञा है।

दे०—शास्त्राज्ञा! स्त्रियों को निरक्षर रखने की भी शास्त्राज्ञा! अच्छा तो मानिए शास्त्राज्ञा। मनु की आज्ञा है—

योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः॥

बताइए, स्कूल और कालेज में आपने कुछ वर्ष गँवाये हैं या नहीं? यह भी बताइए कि कौन-कौन सा वेद आपने याद किया है? शास्त्राज्ञा की बदौलत अब आप अपने अस्पृश्य जनों की बिरादरी में जा रहे हैं; और, हिन्दी के कुछ शब्दों की तरह, आपका वर्णान्तर होने में भी देर नहीं। शास्त्राज्ञा आपको नहीं बचा सकती। बचा सकता है तो केवल रिवाज, रूढ़ि या लोकाचार। उसमें बड़ा बल है। अतएव, दया करके हिन्दी को उसके आश्रय से वञ्चित न कीजिए।

ग०—आप तो धर्मशास्त्र की बातें छेड़ रहे हैं।

दे०—हः हः हः हः और आप निग्रह-स्थान में पड़कर भाग रहे हैं। मेरी सलाह है कि आप ऐसे शुष्कवादों में समय न नष्ट किया करें। कम से कम मैं इस विषय में और अधिक समय नष्ट करने के लिए तैयार नहीं।

[नवंबर, १९१४

१०—कापी-राइट ऐक्ट

अब तक भारतवर्ष में पुस्तकों के स्वत्वाधिकार का जो क़ानून (ऐक्ट २०, सन् १८४७ ईसवी का) प्रचलित था वह रद हो गया समझिये। अब उसकी जगह पर इँगलेंड का एक नया क़ानून (कापी-राइट-ऐक्ट, सन् १९११ ईसवी का) इस देश में प्रचलित हुआ है। इस क़ानून का घनिष्ट सम्बन्ध पुस्तकों के लेखकों और प्रकाशकों से है और उसका जानना उनके लिए बहुत आवश्यक भी है। अतएव उसका सारांश लिखना हम यहाँ पर उचित समझते हैं।

इस क़ानून का नाम सन् १९११ ईसवी का कापी-राइट ऐक्ट है। यह १६ दिसम्बर सन् १९११ ईसवी को पास हुआ था। इँगलेंड में यह पहली जुलाई सन् १८१२ ईसवी से प्रचलित हुआ और भारतवर्ष में भारत-गवर्नमेंट के आज्ञानुसार, ३० अक्तूबर सन् १९१२ ईसवी से जारी हुआ। इस कापी-राइट ऐक्ट को बाक़ायदा भारतवर्ष का क़ानून बनाने के लिए इस विषय का एक मसविदा तैयार किया गया है। उस पर बड़े व्यवस्थापक कौंसिल में शीघ्र ही विचार होगा और विचार होकर वह 'पास' किया जायगा। उस समय, सम्भव है, इस ऐक्ट में विलायती ऐक्ट की अपेक्षा कुछ विशेषता भी रक्खी जाय। इस क़ानून में सब मिलाकर

३७ दफ़ा हैं और मूल ग्रन्थ, अनुवाद, संग्रह, कोष, सामयिक पुस्तक, समाचार-पत्र आदि सब के साथ इसका सम्बन्ध है।

जो मनुष्य जिस ग्रन्थ की रचना करता है उसको प्रकाशित करने का उसे पूर्ण अधिकार होता है। उसके सिवा अन्य किसी को यह अधिकार प्राप्त नहीं कि उस ग्रन्थ को प्रकाशित करे या उसका नवीन संस्करण निकाले या उसका अनुवाद करे। यहाँ तक कि असली ग्रन्थकर्त्ता को छोड़कर दूसरों को यह भी मजाज़ नहीं कि अन्य व्यक्ति के बनाये हुए ग्रन्थ को नाटक के रूप में लिखें अथवा ग्रामोफोन में भरकर सर्वसाधारण को सुना सकें। परन्तु यह अधिकार सब को प्राप्त है कि दूसरों के बनाये हुए ग्रन्थों की समालोचना करें या उनका सारांश लिखें।

ग्रन्थकर्त्ता और उसके उत्तराधिकारियों को ग्रन्थकर्त्ता के जीवन-काल में तथा पचास वर्ष बाद तक ग्रन्थ के ऊपर स्वत्वाधिकार प्राप्त है। तदनन्तर जो चाहे वह उस ग्रन्थ को छाप सकता है। इस मीयाद के अन्दर ग्रन्थकर्त्ता और उसके उत्तराधिकारियों को यह अधिकार है कि वे अपनी पुस्तक को प्रकाशित करने या उसका अनुवाद करने का स्वत्वाधिकार दूसरे के हाथ बेंच डालें। इस दशा में पुस्तक का स्वत्वाधिकार केवल पचीस वर्ष तक ख़रीदनेवाले को प्राप्त रहता है। उसके बाद उसका यह अधिकार नष्ट हो जाता है। अर्थात् वह, पुस्तक का स्वत्वाधिकार ख़रीदने की तारीख़ से पच्चीस वर्ष के बाद उसे प्रकाशित नहीं कर सकता और न उससे कोई लाभ उठा सकता है। उस समय यह अधिकार ग्रन्थकर्त्ता या उसके अधिकारियों को फिर प्राप्त हो जाता है।

यह हम ऊपर लिख चुके हैं कि ग्रन्थकर्त्ता के मरने के बाद से लेकर पचास वर्ष पीछे तक उसके उत्तराधिकारियों को पुस्तक पर सम्पूर्ण अधिकार प्राप्त रहता है और केवल वही उसको प्रकाशित कर सकते हैं। परन्तु यदि ग्रन्थकर्त्ता के उत्तराधिकारी इस अवधि के अन्दर पुस्तक

प्रकाशित न करें तो अदालत के आज्ञानुसार अन्य लोग उस ग्रन्थ को प्रकाशित कर सकते हैं। इस दशा में इस क़ानून के अनुसार उनका यह कर्त्तव्य है कि वे ग्रन्थकर्त्ता के वारिसों को प्रकाशित पुस्तक के मूल्य का दसवाँ हिस्सा दें। यदि कोई मनुष्य पुस्तकों के स्वत्वाधिकार या कापी-राइट के क़ानून को तोड़े, अर्थात् दूसरे की बनाई पुस्तक को बिना उसकी आज्ञा के प्रकाशित या अनुवादित करे, तो पुस्तक के स्वत्वाधिकारी को यह अधिकार है कि वह इस अपराध के किये जाने के तीन वर्ष के अन्दर अदालत में हरजे का दावा करे। यदि अदालत को यह निश्चय हो जायगा कि मुद्दई ही वास्तव में उस पुस्तक का स्वत्वाधिकारी है तो वह इस प्रकार क़ानून के विरुद्ध प्रकाशित की हुई पुस्तक की सम्पूर्ण प्रतियाँ प्रकाशक से छीनकर वास्तविक स्वत्वाधिकारी को दे देगी। परन्तु यदि प्रकाशक अर्थात् मुद्दाइलेह इस बात को साबित कर दे कि वह नेकनियती के साथ इस बात पर विश्वास करता था कि पुस्तक पर किसी को भी क़ानूनी स्वत्वाधिकार प्राप्त नहीं है और उसने वास्तव में ग़लती से ऐसा काम किया है तो अदालत मुद्दई को केवल हरजाना दिलावेगी और प्रकाशित पुस्तक की सारी प्रतियां मुद्दाइलेह की रहेंगी।

यदि इस क़ानून के विरुद्ध कोई पुस्तक अन्य देशों में प्रकाशित की जाय तो वह पुस्तक के स्वत्वाधिकारी के निवेदन करने पर, सरकारी आज्ञा के अनुसार, देश के अन्दर न आने पावेगी।

यदि एक ग्रन्थ को कई मनुष्य मिलकर लिखें तो सब लेखकों को उस पर स्वत्वाधिकार प्राप्त होगा। यह अधिकार उस आंशिक ग्रन्थकार के जीवनकाल तक जो पहले मरे, तथा उसके बाद पचास वर्ष तक ग्रन्थ-कर्त्ताओं को प्राप्त रहेगा। अथवा केवल उस आंशिक ग्रन्थकर्त्ता के जीवन-पर्य्यन्त यह अधिकार सब को प्राप्त रहेगा जो सब से पीछे मरे। इन दोनों अवधियों में से कौन प्रामाणिक मानी जायगी, इस बात का निर्णय

करने के लिए इस क़ानून में यह लिखा है कि दोनों अवधियों में से जो सब से अधिक लम्बी होगी वही ठीक मानी जायगी। यदि ऐसे शामिलाती ग्रन्थकारों में से कोई कापी-राइट के नियमों की पाबन्दी न करे तो इससे अन्य आंशिक ग्रन्थकारों के स्वत्वों में कोई अन्तर न पड़ेगा। यदि कोई ग्रन्थ ग्रन्थकार के मरने के बाद प्रकाशित किया जाय तो उसके वारिसों को ग्रन्थ-प्रकाशन के बाद पचास वर्ष तक उस पर अधिकार रहेगा। जो पुस्तकें गवर्नमेंट प्रकाशित करती है उन पर भी केवल पचास वर्ष तक अधिकार रहेगा। इसी प्रकार फोटोग्राफ़रों को अपने लिये हुए फ़ोटो पर, निगेटिव तैयार करने के पचास वर्ष बाद तक ही, अधिकार रहेगा।

पुस्तक के संशोधित और परिवर्धित संस्करण निकालने का अधिकार भी केवल उसीको प्राप्त है जिसके नाम कापी-राइट हो। यदि कोई मनुष्य किसी पुस्तक के लिखने या संग्रह करने में दूसरों से सहायता ले अथवा अन्य लोगों को पुरस्कार देकर अपने लिए कोई पुस्तक लिखावे तो उसको उस पुस्तक पर पूरा-पूरा स्वत्वाधिकार प्राप्त होगा। परन्तु यदि कोई व्यक्ति किसी दूसरे की बनाई हुई पुस्तक के आधार पर उस का सारांश अपने ढँग पर और अपने शब्दों में लिखता है और उस पुस्तक के अनावश्यक और अनुपयोगी अंशों को छोड़ देता है तो उसकी वह पुस्तक इस क़ानून के अनुसार नई समझी जायगी और यह माना जायगा कि उसने कापी-राइट के नियमों को नहीं तोड़ा। इस दशा में असली पुस्तक का स्वत्वाधिकारी सारांश-लेखक पर किसी प्रकार का दावा न कर सकेगा। पर यदि कोई मनुष्य किसी दूसरे के ग्रन्थ का सारांश अपने शब्दों में और अपने ढँग पर न लिखकर असली ग्रन्थकर्त्ता ही की लिखी हुई मुख्य मुख्य बातों को अपनी पुस्तक में लिख दे और अपनी तरफ से उसमें कुछ न लिखे तो यह समझा जायगा कि उसने कापीराइट के क़ानून को तोड़ा है और उसका यह काम चोरी का काम माना जायगा।

बस यही कापी-राइट ऐक्ट, सन् १९११, का सारांश है। भारतवर्ष की वर्तमान दशा के लिए यह बहुत ही उपयोगी और आवश्यक है। आजकल इस देश में जिस प्रकार की साहित्य-सम्बन्धिनी चोरियाँ दिन-दहाड़े होती रहती हैं उनको दूर करने में इस क़ानून के द्वारा बहुत सहायता मिलेगी। जिन लोगों को साहित्य-सम्बन्धी डाके डालने की आदत पड़ रही है उन्हें अब ख़बरदार हो जाना चाहिए।

[अप्रेल १९१३

११—नया कापी-राइट ऐक्ट

गवर्नर-जनरल के कौंसिल की जो बैठक, देहली में, २४ फ़रवरी १९१४ को हुई उसमें नया कापी-राइट ऐक्ट "पास" हो गया। यह वही ऐक्ट है जिस के विषय में एक लेख पहले ही दिया जा चुका है। इँगलैंड में जो नया कापी-राइट ऐक्ट जारी हुआ है वही अब बाक़ायदा भारत में भी जारी कर दिया गया। पर भारतीय ऐक्ट में विलायती ऐक्ट से कुछ विशेषतायें हैं। उनमें से अनुवाद के सम्बन्ध की विशेषता बड़े महत्त्व की है। उसका तथा और दो-चार बातों का सारांश नीचे दिया जाता है।

अब तक कापी-राइट का क़ानून १८४७ ईसवी के ऐक्ट २० और १८६७ के ऐक्ट २५ के अनुसार बर्ताव में आता था। वह अब रद हो गया। इन ऐक्टों में बयान किये गये क़ानून की पाबन्दी किये बिना ही कितने ही लेखक और प्रकाशक अपनी-अपनी पुस्तकों पर बहुधा छाप दिया करते थे—"हक़ महफ़ूज़", "हक़ूक़ महफ़ूज़", "स्वत्व रक्षित," "सर्वाधिकार रक्षित"। कोई-कोई तो बड़ी-बड़ी धमकियाँ तक पुस्तक के टाइटिलपेज पर छाप देते थे। परन्तु यदि फ़ीस देकर किसी पुस्तक की

बाक़ायदा रजिस्टरी न कराई गई हो तो इस तरह की धमकियाँ और इस तरह की सूचनायें व्यर्थ थीं। इनसे कुछ भी लाभ न था। जिस पुस्तक की रजिस्ट्री न हुई हो उसे जिसका जी चाहे छाप सकता था।

अब यह क़ानून बदल गया। रजिस्ट्री कराने की कोई ज़रूरत नहीं रही। टाइटिलपेज के अनुसार जो जिस पुस्तक का लेखक है उसी का उस पर पूरा हक़ समझा जायगा। जब तक वह ज़िन्दा है तभी तक नहीं, उसके मरने के ५० वर्ष बाद तक भी कोई उसकी पुस्तक को, किसी रूप में, न प्रकाशित कर सकेगा। उसकी अथवा उसके वारिसों की रज़ामन्दी ही से वह ऐसी पुस्तक को छपाकर बेच सकेगा।

इस नये क़ानून से एक और भी सुभीते की बात हो गई है। विलायत की छपी हुई किसी पुस्तक को यदि इस देश में कोई छपाकर प्रकाशित करना चाहे तो खुशी से कर सकता है। विलायती ऐक्ट की दफ़ा १४ देखिए। विलायती ग्रन्थकार या उसके वारिस सिर्फ़ इतनाहीं कर सकते हैं कि सरकारी अफ़सरों से कहकर उस पुस्तक की कापियों का विलायत जाना रोक दे सकते हैं। इसी तरह भारत में छपी हुई पुस्तकें वे लोग वहाँ छाप सकते हैं और भारतीय ग्रन्थकार या उनके वारिस उन पुस्तकों को यहाँ आने से रोक सकते हैं। यह क़ानून हम लोगों के बड़े काम का है। क्योंकि हमीं को विलायती पुस्तकें छापने या उनका अनुवाद करने की अधिक ज़रूरत रहती है।

इस नये क़ानून में एक बात बे-सुभीते की भी है। गवर्नमेंट हर साल सैकड़ों रिपोर्टें और सैकड़ों तरह की पुस्तकें प्रकाशित करती है। उनमें से कितनीहीं पुस्तकें प्रजा के बड़े काम की होती हैं। विलायती ऐक्ट की दफ़ा १८ के मुताबिक उनका कापी-राइट गवर्नमेंट ने अपने ही हाथ में रक्खा है। गवर्नमेंट की प्रकाशित किसी पुस्तक के पहली दफ़े निकलने के ५० वर्ष बाद तक किसी को उसे छपाने और १० वर्ष बाद तक उस

का अनुवाद करने का अधिकार नहीं। यदि दफ़ा १८ का वही मतलब है जैसा कि हम ने समझा है तो यह क़ानून बहुत हानिकारक है। गवर्नमेंट की प्रकाशित पुस्तकें प्रजा ही के रुपये से प्रकाशित होती हैं। अतएव प्रजा को भी उनके प्रकाशन का हक़ होना चाहिए। आशा है, कोई वकील महाशय उदारतापूर्वक इस दफ़ा का ठीक-ठीक आशय समझाने की कृपा करेंगे। अगर कोई मसकटरी रेगुलेशन, या पेनलकोड, या गैज़िटियर या और कोई ऐसी ही पुस्तक या उसका अनुवाद प्रकाशित करना चाहे तो कर सकता है या नहीं। क्या इस तरह की पुस्तकें "Government Publication" की परिभाषा में नहीं? यदि हैं तो यह क़ानून प्रजा के हित का बहुत बड़ा बाधक है। कल्पना कीजिए कि गवर्नमेंट ने एक पुस्तक अँगरेज़ी में प्लेग पर प्रकाशित की और उसमें प्लेग से बचने के उपाय बतलाये। ऐसी पुस्तक की जितनी ही अधिक कापियाँ छपाई और बेची या वितरण की जायँ उतना ही अच्छा। ऐसी पुस्तक के अनुवाद देशी भाषाओं में प्रकाशित करने की तो और भी अधिक आवश्यकता है। पर क़ानून की रू से मूल पुस्तक तद्वत् छपाने के लिये ५० वर्ष और अनुवाद के लिए १० वर्ष ठहरना चाहिए और इतने दिन ठहरने से उद्देश की सिद्धि ही नहीं हो सकती। रही गवर्नमेंट से अनुमति लेने की बात। सो ऐसी अनुमति शीघ्र और सहज में नहीं प्राप्त हो सकती। इस दशा में इस नये क़ानून का यह अंश प्रजा के लिए बड़ा ही हानिकारक है। बड़े दुःख की बात है कि इस क़ानून का मसविदा महीनों विचाराधीन रहा। कौंसिल के देशी मेम्बरों में से अनेक वकील और बैरिस्टर हैं। उन्होंने उसे पढ़ा और उस पर विचार भी किया। फिर भी यह दोष किसी के ध्यान में न आया। बड़ी अच्छी बात हो जो हमने इस का आशय समझने में भूल की हो—दफ़ा १८ की वह मंशा न हो जो हमने समझी है।

इस ऐक्ट के "पास" हो जाने से अब अनुवादकों की खूब बन आवेगी। विलायत में छपी हुई पुस्तकों का अनुवाद करने की तो कोई रोक-टोक रही ही नहीं। इस देश में भी छपी हुई पुस्तकों का अनुवाद, मूल पुस्तक के पहले पहल प्रकाशित होने के दस वर्ष बाद, जिस का जी चाहे अन्य किसी भाषा में आनन्द से कर सकेगा। बङ्किमचन्द्र और ईश्वरचन्द्र विद्यासागर के ग्रन्थ अब सर्व-साधारण का माल हो गये। उनका अनुवाद करने के लिए अब किसी से कुछ पूछने को ज़रूरत नहीं। रमेशचन्द्रदत्त और रवीन्द्रनाथ ठाकुर के जिन ग्रन्थों को निकले दस वर्ष हो चुके उनका भी हिन्दी अनुवाद पुस्तक-प्रकाशक मण्डलियाँ, कम्पनियाँ, और परिषदें अब निडर होकर कर सकती हैं।

इस सम्बन्ध में एक बात हमें कहना है। यदि कोई किसी की पुस्तक का ऐसा भ्रष्ट अनुवाद करे जिससे मूल पुस्तक का आशय कुछ का कुछ प्रकट होने लगे और जिससे मूल ग्रन्थकार के गौरव की हानि हो तो उसका क्या इलाज होगा? क़ानून में तो कुछ इलाज तजवीज़ किया गया नहीं। हम देखते हैं कि कोई-कोई अनुवादक अपने अनुवाद में मूल पुस्तक के आशय की बड़ी ही दुर्दशा करते हैं। इतनी दुर्दशा कि अनुवाद पढ़ते समय मूल पुस्तक के लेखक पर तरस आता है। ऐसे अनुवादकों के पंजे से ग्रन्थकारों को बचाने का इस क़ानून में कोई उपाय नहीं बताया गया। यह दुःख की बात है।

लेनेवाले या तैयार कराकर बेचनेवालों के फ़ोटो भी अब उनकी अनुमति के बिना, ५० वर्ष तक, कोई नहीं निकाल सकता। चोरी या सीनेज़ोरी की बात ही और है।

यदि कोई किसी अख़बार या सामयिक पुस्तक में कोई लेख प्रकाशित करे तो उस लेख को वहाँ से उठाकर पुस्तकाकार प्रकाशित करने का किसी और आदमी को अधिकार नहीं। लेखक की ज़िन्दगी के बाद

५० वर्ष बीतने की क़ैद यहाँ भी है। उसका अनुवाद प्रकाशित करने के लिए पूर्वोक्त १० वर्ष तक ठहरना पड़ेगा।

किसी के लेख या पुस्तक की समालोचना करने या उसका सारांश ("News paper Summary") प्रकाशित करने की तो रोक-टोक नहीं। पर इससे दूर जाने की आज्ञा क़ानून नहीं देता। इस दशा में विना लेखक की अनुमति के उसके लेख को अख़बारों या सामयिक पुस्तकों में प्रकाशित करने, अथवा उनका अनुवाद छापने, अथवा दो-चार शब्द अदल-बदल कर संस्कृत शब्दों की जगह उर्दू-फ़ारसी के और उर्दू-फ़ारसी के शब्दों की जगह संस्कृत शब्द रख कर उसे अपना बना लेने की चेष्टा करना भी क़ानून की दृष्टि से जुर्म है।

इस कानून के ख़िलाफ़ काम करनेवाले पर तीन वर्ष के भीतर ही मुक़द्दमा चलाने से चल सकेगा। उसके आगे नहीं। अब तक इस तरह के मुक़द्दमे केवल हाईकोर्ट में होते थे। अब पहले दरजे के मैजिस्ट्रेटों को भी ऐसे मुक़द्दमे सुनने का अख़्तियार दे दिया गया है।

कापी-राइट का क़ानून तोड़नेवालों पर लेख, पुस्तक, या फोटो की फ़ी कापी के लिए २० रुपये तक जुरमाना किया जा सकेगा। शर्त यह है कि जुरमाने की कुल रक़म ५०० रुपये से अधिक न हो। वही जुर्म दुबारा करनेवालों पर एक महीने की सादी क़ैद या एक हजार रुपये तक जुरमाने की सज़ा, या दोनों सज़ायें एक ही साथ, दी जा सकेंगी।

अपील के लिए एक महीने की मुद्दत दी गई है।

लेखकों, अनुवादकों, और प्रकाशकों को सावधान हो जाना चाहिए।

[अप्रैल १९१४

१२—पुस्तक-प्रकाशन

पुस्तक-प्रणयन का काम जितने महत्त्व का है, पुस्तक-प्रकाशन का भी उतने ही महत्त्व का है। किम्बहुना उससे भी अधिक महत्त्व का है। क्योंकि पुस्तक चाहे जितनी उपयोगी, आवश्यक और लाभदायक क्यों न हो, यदि वह प्रकाशित न हुई तो उसका निर्म्माण ही बहुत कुछ व्यर्थ समझना चाहिए। पुराने ज़माने में पुस्तक-प्रकाशन के उपाय वैसे सुलभ न थे जैसे आजकल हैं। इसी से अनन्त ग्रन्थ-रत्न नष्ट हो गये; और यदि उनमें से कहीं कोई अब तक छिपे-छिपाये पड़े भी हैं तो उनका होना न होने के बराबर है। क्योंकि उनके अस्तित्व से सर्वसाधारण को लाभ नहीं पहुँचता। जिस समय छापने की कला का आविष्कार नहीं हुआ था उस समय किसी नवीन ग्रन्थ की नक़ल करने में बड़ा परिश्रम पड़ता था। इसी से अमीर आदमियों को छोड़ कर, साधारण जनों के लिए, बहुल परिमाण में, अच्छे-अच्छे ग्रन्थों का अवलोकन, परिशीलन और संग्रह प्रायः असम्भव सा था। अतएव विद्या-वृद्धि में बहुत बाधा आती थी।

इस समय छापे के यन्त्रों की बदौलत पुस्तकों का छपकर प्रकाशित होना, पहले की अपेक्षा, बहुत आसान हो गया है। जो देश अधिक सुशिक्षित हैं, जहाँ विद्या और कला-कौशल की ख़ूब अभिवृद्धि है, जहाँ पढ़ने-लिखने की विशेष चर्चा है, वहाँ साल में सैकड़ों नहीं, हज़ारों उत्तमोत्तम ग्रन्थ बनते, निकलते और हाथों-हाथ बिक जाते हैं। योरप और अमेरिका में लाखों, करोड़ों, रुपये की पूँजी लगाकर कितनी ही कम्पनियाँ

खड़ी हुई हैं जिनका एक मात्र व्यवसाय पुस्तकों को प्रकाशित करना और उन्हें बेंचकर सर्वसाधारण को लाभ पहुँचाना है। पुस्तक-प्रकाशन का व्यवसाय करनेवालों की बदौलत शिक्षा और विद्या के प्रचार में जो मदद मिलती है सो तो मिलती ही है; उनसे एक और भी उपकार होता है। वह यह कि पुस्तक-प्रणेता जनों के परिश्रम को सफल करके ये लोग उन्हें उनके परिश्रम का पुरस्कार भी देते हैं। इससे ग्रन्थकर्त्ता लोग जीवन-निर्वाह के लिए और झंझटों में न पड़कर, आराम से उत्तमोत्तम पुस्तकें लिखते हैं, और उन्हें पुस्तक-प्रकाशकों को देकर उनसे प्राप्त हुए धन से आनन्दपूर्वक अपना निर्वाह करते हैं। इस प्राप्ति की बदौलत उनको रुपये-पैसे की कमी नहीं रहती। पेट की ज्वाला बुझाने के लिए उन्हें दौड़-धूप नहीं करनी पड़ती। जितनी ही अच्छी, जितनी ही उपयोगी, पुस्तक वे लिखते हैं उतना ही अधिक पुरस्कार भी उन्हें मिलता है। इससे उनका उत्साह बढ़ता है और अच्छे-अच्छे ग्रन्थ उनकी क़लम से निकलते हैं। सुशिक्षित देशों में ग्रन्थ लिखने का एक व्यवसाय ही हो गया है। इस व्यवसाय को लोग बड़े आदर की दृष्टि से देखते हैं।

जहाँ पुस्तक-प्रकाशन का व्यवसाय होता है वहाँ पुस्तक लिखनेवालों को, अपनी पुस्तकें छपाकर प्रकाशित करने में, प्रयास नहीं पड़ता; और यदि पड़ता भी है तो बहुत कम। उन्होंने पुस्तक लिखी और किसी अच्छे प्रकाशक के सिपुर्द कर दी। उससे पुरस्कार लिया और दूसरी पुस्तक के लिखने में लगे। प्रकाशक ने उस पुस्तक को प्रकाशित करके उसके करोड़ों विज्ञापन दुनिया भर में बाँटे। यदि पुस्तक अच्छी हुई तो थोड़े ही दिनों में उसकी हज़ारों कापियाँ बिक गईं। ऐसी पुस्तकें लिखनेवालों को लाभ भी बहुत होता है। भारतवर्ष के वर्तमान सेक्रेटरी आफ़ स्टेट, जान मार्ले साहब, ने ग्लैडस्टन साहब का जीवनचरित लिखकर लाखों रुपये कमाये हैं। पोप कवि, होमर की इलियड नामक काव्य के अनुवाद

ही की बदौलत, अमीर हो गया। परन्तु, याद रहे, यह विलायत का ज़िक्र है, यहाँ का नहीं। यहाँ विद्या और शिक्षा की जैसी दशा है उसके होते यहाँ वालों को विलायत के ग्रन्थकारों के पुरस्कार का शतांश क्या सहस्रांश भी मिलना असम्भव है। यहाँ उनकी लिखी हुई पुस्तकें ही कोई प्रकाशक मुफ़्त में छाप दे तो ग़नीमत समझना चाहिए। पुरस्कार तो तब मिलेगा जब पुस्तक अच्छी होगी; हज़ार दो हज़ार कापियाँ बिकने की उम्मेद होगी। प्रकाशकों के छापेख़ाने में कारूँ का ख़ज़ाना नहीं गड़ा जो रद्दी किताबों की लिखाई दो-दो चार-चार तोड़े देते चले जायँ।

योरप और अमेरिका में प्रकाशक लोग ग्रन्थकारों को एक ही बार पुरस्कार दे कर फ़ुरसत नहीं पा लेते। किसी पुस्तक का कापी-राइट (स्वत्व) मोल लेकर जो कुछ ठहर जाता है वह तो वे देते ही हैं; पर इसके सिवा वे प्रत्येक संस्करण पर कुछ "रायल्टी" भी देते हैं। अर्थात् जिस पुस्तक का वे स्वत्व ख़रीदते हैं उसकी प्रत्येक आवृत्ति पर फ़ी सैकड़ा, या फ़ी हज़ार, जो निश्चय हो जाता है वह भी ग्रन्थकार को बराबर देते रहते हैं। यदि कोई पुस्तक चल गई तो लिखनेवाले का दुःख-दरिद्र एक ही पुस्तक की बदौलत दूर हो गया समझिए।

पुस्तक-प्रणेता बहुधा निर्धन हुआ करते हैं। अतएव उनकी पुस्तकों को छपाने का यदि किसी की सहायता से प्रबन्ध न हुआ तो उनका अप्रकाशित रह जाना असम्भव नहीं। क्योंकि रुपया पास न होने से मुफ़्त में तो किताब छपती नहीं। इसी से पुस्तक-प्रणेताओं को पुस्तक-प्रकाशकों के आश्रय की बड़ी ज़रूरत रहती है। निर्धन आदमी ने यदि किसी तरह माँग-जाँचकर अपनी कोई पुस्तक ख़ुद ही प्रकाशित की और उसकी बिक्री न हुई तो उस बेचारे का सारा उत्साह मिट्टी में मिल गया समझना चाहिए। और धनवान आदमी के लिए भी अपनी लागत से पुस्तकें छपाना, और यदि न बिकें तो हानि उठाना भी तो नैराश्यजनक है।

एक दो दफ़े कोई चाहे भले ही इस तरह हानि उठावे, पर बार-बार कोई भी घर का रुपया व्यर्थ न फेंकना चाहेगा। पुस्तक-प्रकाशकों की बात दूसरी है। उनको इस व्यवसाय के दाँव-पेंच मालूम रहते हैं। उनके पास बहुधा निज का छापाख़ाना भी होता है। इससे पहले तो वे कोई ऐसी पुस्तक लेते ही नहीं जिससे हानि की सम्भावना हो। और यदि हानि हुई भी तो किसी और पुस्तक की विशेष बिक्री से वह हानि पूरी हो जाती है। फिर इन लोगों को विज्ञापन देने के ऐसे-ऐसे ढङ्ग मालूम रहते हैं कि एक कम उपयोगी पुस्तक के भी लिए वे आकाश-पाताल एक कर देते हैं। हज़ारों पुस्तकें अन्यान्य देशों को भेज देते हैं। कितनी ही कमीशन पर, बिक्री के लिए, दुकानदारों को दे देते हैं। मतलब यह कि पुस्तक बेंचकर उससे यथेष्ट लाभ उठाने के साधनों को काम में लाने में वे कोई कसर नहीं करते।

इँगलेंड के समाचारपत्रों और सामयिक पुस्तकों के सम्पादकों को पुस्तक-प्रकाशकों से बहुत लाभ होता है। अथवा यों कहना चाहिए कि परस्पर एक दूसरे की मदद के बिना उनका काम ही नहीं चल सकता। समाचारपत्रों में पुस्तकों के जो विज्ञापन छपते हैं उनसे उन्हें लाखों रुपये की आमदनी होती है और विज्ञापनों ही की बदौलत प्रकाशकों की पुस्तकें बिकती हैं। इँगलेंड में 'लण्डन-टाइम्स' नाम का एक सब से अधिक प्रभावशाली पत्र है। इस पत्र के मालिकों और इँगलेंड के पुस्तक-प्रकाशकों में, कुछ दिन हुए, अनबन हो गई थी। इस विषय में दोनों पक्षों में घनघोर विवाद ठना। दोनों तरफ़ से बड़े-बड़े लेख लिखे गये। प्रकाशकों ने "टाइम्स" को विज्ञापन देना बन्द कर दिया। जिन प्रकाशकों से "टाइम्स" ने पहले ही से वर्ष-वर्ष दो-दो वर्ष विज्ञापन छापने का ठेका करके रुपया वसूल कर लिया था, सिर्फ़ उनके विज्ञापन छपते रहे। बाक़ी प्रकाशकों ने एका करके "टाइम्स" का "बायकाट" कर दिया। बहुत

दिन बाद लड़-झगड़कर आपस में निपटारा हो गया और फिर "टाइम्स" में विज्ञापन छपने लगे। एक बात जो इससे सिद्ध होती है वह यह है कि इँगलैंड के प्रकाशक इतने प्रबल और शक्तिमान हैं कि "टाइम्स" जैसे पत्र की भी वे नाकों दम कर सकते हैं।

बड़े खेद की बात है कि इस देश की भाषाओं में—विशेष करके हिन्दी में—जैसे सुपाठ्य पुस्तकों की कमी है वैसे ही प्रकाशकों की भी कमी है। प्रकाशकों की कमी नहीं, किन्तु यह कहना चाहिए कि उनका प्रायः अभाव सा है। अच्छी-अच्छी पुस्तकों के न बनने और उनके न प्रकाशित होने के जो कारण हैं उनमें सुयोग्य प्रकाशकों का न होना भी एक कारण है। बाबू दिनेशचन्द्र सेन, बी० ए०, ने "वङ्ग भाषा ओ साहित्य" नामक एक अद्वितीय ग्रन्थ लिखा है। उसके पहले संस्करण की छपाई इत्यादि का खर्च स्वाधीन त्रिपुरा के अधिपति, महाराज वीरचन्द्र माणिक्य, ने दिया। तब वह पुस्तक छपकर प्रकाशित हो सकी। पुस्तक ऐसी उत्तम कि एक ही वर्ष में उसका पहला संस्करण बिक गया। गवर्नमेंट ने इस पुस्तक को इतना पसन्द किया कि दिनेश बाबू को २५ रुपया मासिक पेन्शन हो गई। परन्तु इस पुस्तक को लिखने में पुस्तककर्त्ता ने इतना परिश्रम किया कि उनका स्वास्थ्य बिगड़ गया और जिस नौकरी की बदौलत उनकी जीविका चलती थी उससे हाथ धोना पड़ा। फल यह हुआ कि वे रोटियों के लिए मुहताज हो गये और गवर्नमेंट की पेन्शन ही से किसी तरह पेट पालना पड़ा। इस दशा में वे अपनी पूर्वोक्त पुस्तक का दूसरा संस्करण न निकाल सके। उसके लिए २००० रुपये दरकार थे। इतना रुपया उनके पास कहाँ? अतएव बहुत दिनों तक उसकी दूसरी आवृत्ति न निकल सकी। अन्त में सन्याल एण्ड कम्पनी ने किसी तरह इस परमोपयोगी ग्रन्थ को प्रकाशित करके उसे सर्वसाधारण के लिए सुलभ कर दिया। अब कहिए, यदि यह कम्पनी न होती तो यह

उतनी अच्छी पुस्तक शायद दुबारा छप ही न सकती। राजे-महाराजे हैं सही, और कभी-कभी वे किसी-किसी की मदद कर भी देते हैं; पर उनका यह व्यवसाय नहीं। फिर, कुछ ही राजे-महाराजे ऐसे हैं जिनको पढ़ने-लिखने का शौक़ है। बाक़ी के विषय में कुछ न लिखना ही अच्छा है।

बङ्गाल में पुस्तक-प्रकाशन का थोड़ा-बहुत सुभीता है। दक्षिण में भी कई आदमी मराठी पुस्तकें प्रकाशित करने का व्यवसाय करते हैं। वहाँ कई एक प्रेस भी ऐसे हैं जो हमेशा नई-नई पुस्तकें निकाला करते हैं। कितनी ही मासिक पुस्तकें ऐसी हैं जिनमें अच्छे-अच्छे ग्रन्थ, थोड़े थोड़े, निकलते रहते हैं और पूरे हो जाने पर अलग पुस्तकाकार प्रकाशित किये जाते हैं। दाक्षिणात्य प्रकाशकों में हम दाभोलकर-उपनामधारी एक सज्जन के प्रकाशन-सम्बन्धी काम को सब से अधिक प्रशंसनीय समझते हैं। उन्होंने कई साल से उत्तमोत्तम अँगरेज़ी-ग्रन्थों का अनुवाद, प्रतिष्ठित विद्वानों से मराठी में करा कर, प्रकाशित करने का क्रम जारी किया है। आज तक उन्होंने कोई ३० ग्रन्थ प्रकाशित किये होंगे। उनमें कुछ ही ग्रन्थ बिलकुल नये हैं। अधिकतर अँगरेज़ी के अनुवाद हैं। बाबाजी सखाराम एंड कम्पनी ने भी कई उपयोगी ग्रन्थ प्रकाशित किये हैं। उसका प्रकाशन-कार्य अभी तक जारी है। निर्णयसागर प्रेस के मालिक और जनार्दन महादेव गुर्जर आदि भी चुप नहीं हैं। वे भी पुस्तक-प्रकाशन में अधिकाधिक अग्रसर हो रहे हैं। परन्तु निर्णय-सागर से विशेष करके संस्कृत ही के ग्रन्थ अधिक निकलते हैं। हाँ, महाराजा गायकवार का नाम हम भूल ही गये। आपने बरौदे से आज तक न जाने कितने अमूल्य ग्रन्थ, मराठी में, प्रकाशित कराये होंगे। आपके नाम से मराठी में ग्रन्थों की एक माला की माला ही निकलती है। आपकी इस माला में जितने ग्रन्थ निकले हैं एक से एक अपूर्व हैं। इस समय हम लोगों को ऐसे ही ग्रन्थों की ज़रूरत है। महाराजा

गायकवार को विद्या का बेतरह व्यसन है। ग्रन्थकारों के तो वे कल्प-वृक्ष ही हैं। किसी ग्रन्थकार का कोई अच्छा ग्रन्थ उनके सामने आया कि ग्रन्थकार को पुरस्कार मिला। आपने कितनी ही दफ़े मराठी मासिक पुस्तकों के सम्पादकों के लेखों पर प्रसन्न होकर हज़ारों रुपये दे डाले हैं। इस समय आपके साहाय्य से महाभारत का एक बहुत ही अच्छा अनुवाद, मराठी में, हो रहा है।

इन प्रान्तों में पुस्तक-प्रकाशन का व्यवसाय करके मुंशी नवलकिशोर ने बड़ा नाम पाया, बहुत लाभ भी उठाया और सर्वसाधारण में विद्या का प्रचार भी बढ़ाया। उन्होंने हिन्दी, उर्दू, फ़ारसी और संस्कृत के ग्रन्थ प्रकाशित करके, बहुत सी अच्छी-अच्छी पुस्तकें, थोड़ी क़ीमत पर, सुलभ कर दीं। यदि मुंशीजी इस काम को न करते तो तुलसीदास की रामायण गाँव-गाँव में न देख पड़ती। यह व्यवसाय करके उन्होंने ख़ुद भी लाभ उठाया और हज़ारों पुस्तकें प्रकाशित करके शिक्षा-प्रचार और ज्ञान-वृद्धि भी की। परन्तु मुंशीजी के सद्व्यवसाय का हृदय से अभिनन्दन करते हुए, हम यह भी कहना अपना कर्तव्य समझते हैं कि उन्होंने विशेष करके उन्हीं पुरानी पुस्तकों के प्रकाशन की ओर अधिक ध्यान दिया जिनका थोड़ा-बहुत धर्म्म से सम्बन्ध था। अथवा उन्होंने क़िस्से-कहानी आदि की ऐसी किताबें प्रकाशित कीं जिनको सब लोग पसन्द नहीं करते। परन्तु इसके साथ एक बात यह भी है कि उन्नत-विचार-पूर्ण पुस्तकें पढ़ने की लालसा पढ़े-लिखे आदमियों में अभी कुछ ही दिन से जागृत हुई है। अतएव यदि मुंशीजी को इस तरह की पुस्तकें मिलतीं और वे उन्हें प्रकाशित भी करते, तो भी उनके पढ़ने-वाले बहुत न मिलते।

श्रीवेङ्कटेश्वर प्रेस के मालिक ने भी प्रकाशन का काम करके साहित्य की बहुत कुछ उन्नति की है। पहले आपके यहाँ विशेष करके संस्कृत ही के

ग्रन्थ छपते थे; पर अब हिन्दी के भी छपने और प्रकाशित होने लगे हैं। पुराण, ज्योतिष और वैद्यक आदि के ग्रन्थों का हिन्दी-अनुवाद प्रकाशित करके आपने संस्कृत न जाननेवालों के लिए इन ग्रन्थों से लाभ उठाने का द्वार उन्मुक्त कर दिया। यह आपने बहुत बड़ा काम किया। जब से आप श्रीवेङ्कटेश्वर-समाचार को निकालने लगे हैं तब से हिन्दी की भी अच्छी-अच्छी पुस्तकें आपके यहाँ से निकलने लगी हैं। जहाँ तक हमने सुना है, आप अच्छे-अच्छे ग्रन्थकारों, अनुवादकों और प्राचीन पुस्तक-प्रदाताओं को धन और पुस्तक आदि से सहायता देकर उनका उत्साह भी बढ़ाते हैं। यह आपके पुस्तक-प्रकाशन में विशेषता है।

और भी, इस समय, कई सज्जन हिन्दी में पुस्तक-प्रकाशन का काम करते हैं। उनका भी उद्योग अभिनन्दनीय है। परन्तु इस तरह के प्रकाशकों में जो लोग सुशिक्षित हैं उनके यहाँ से प्रायः अनुपयोगी पुस्तकें निकलते देख खेद होता है। अब शिक्षित जनों का ध्यान देशोन्नति की तरफ़ जाने लगा है; शिक्षा-प्रचार की तरफ़ जाने लगा है; विद्या, विज्ञान और कला-कौशल के अभ्युदय की तरफ़ जाने लगा है। अतएव ऐसा समय आने पर भी, शिक्षित होकर, जो व्यवसायी इन विषयों की एक भी पुस्तक न प्रकाशित करके केवल उपन्यास, नाटक और क़िस्से-कहानियाँ ही छापकर रुपया बटोरना चाहते हैं वे अभिनन्दन के पात्र नहीं। हम यह नहीं कहते कि नाटक और उपन्यास न बनें; ज़रूर बनें और ज़रूर प्रकाशित हों। पर फ़ी सदी बहुत नहीं तो दस पुस्तकें तो समयानुकूल निकलें। बनारस और मुरादाबाद आदि के प्रकाशकों का ध्यान ज़रूर इस तरफ़ जाना चाहिए। हम उपन्यासों के विरोधी नहीं। अँगरेज़ी भाषा का साहित्य कितना उन्नत है। पर उसमें भी डिकेमरन, हेप्टेमरन, लन्दन और पेरिस के कोर्ट्‌स के रहस्य, ज़ोला आदि के उपन्यास भरे पड़े हैं। पर हमारे यहाँ तो और कुछ नहीं, प्रायः इसी तरह

की अनुपयोगी पुस्तकों की भरमार है। काम-शास्त्र और रति-शास्त्र प्रकाशित करना, अथवा कुछ का कुछ लिखकर गन्दे नाम से देश भर में विज्ञापन छपाते फिरना बड़ी लज्जा की बात है। कुछ लोग क़ानून के डर से मज़मून तो अश्लील नहीं होने देते, पर लोगों को भ्रम में डालने के लिए, नाम कोई गन्दा सा रख देते हैं, जिसमें नाम देखकर ही लोग पुस्तक मँगावें। यह अत्यन्त निन्दनीय काम है। क्या ही अच्छा हो यदि गवर्नमेंट पेनल कोड के अश्लील-साहित्य-सम्बन्धी सेकशन को ज़रा और व्यापक कर के इन कोकशास्त्रियों की पुस्तकें मुरादाबाद की रामगङ्गा और झाँसी के लक्ष्मी-तालाब में डुबो दे।

जब किसी भाषा की उन्नति का आरम्भ होता है तब उपन्यासों ही से होता है। उपन्यासों के पढ़ने में मन को परिश्रम नहीं पड़ता। बुद्धि की भी सञ्चालना नहीं करनी पड़ती। अतएव सब लोग, मनोरञ्जन के लिए, उपन्यासों को प्रेम से पढ़ते हैं। हिन्दी में जो इस समय उपन्यासों का ज़ोरशोर है वह हिन्दी के भावी अभ्युदय का सूचक है। परन्तु उपन्यासकारों का धर्म्म है कि यथासम्भव वे अच्छे उपन्यास लिखें। क्या बङ्किम बाबू ने बँगला में उपन्यास नहीं लिखे? यदि यह कहें कि उपन्यासों के सिवा उन्होंने और कुछ लिखा ही नहीं तो भी अत्युक्ति न होगी। उनका एक भी उपन्यास बुरा नहीं। क्यों फिर उनकी इतनी क़दर है? इसीलिए कि उनका रचना-कौशल उत्तम है, उनका कथानक अच्छा है, उनके प्रत्येक पात्र का क्रिया-कलाप स्वाभाविक है, जहाँ जिस रस की अपेक्षा थी वहाँ उसका पूरा परिपाक हुआ है। यदि लेखक अच्छा है तो वह अपने उपन्यास में मनुष्यों के चरित का स्वाभाविक और सर्वजनानुमोदित चित्र खींचकर पढ़नेवालों को मुग्ध ज़रूर कर देगा। और यदि लेखक अच्छा नहीं तो वह चाहे अपने पात्रों को जितना कुरुचि-कषाय पिलावे, चाहे जितने रहस्यों को स्फोट करे और चाहे जितने हरमों का

हाल लिखे, उसके उपन्यास से कभी यथेष्ट आनन्द न मिलेगा। अतएव लेखकों को चाहिए कि अच्छे-अच्छे उपन्यास लिखें और प्रकाशक उनके गुण-दोषों पर अच्छी तरह विचार करके उन्हें प्रकाशित करें।

यदि प्रकाशक अपने व्यवसाय को अच्छी तरह जानता है, यदि वह लोगों की रुचि को पहचानता है, यदि उसे अपने लाभ के साथ अपने देश और अपने देशवासियों के लाभ का भी कुछ ख़याल है तो वह अच्छे-अच्छे भी उपन्यास प्रकाशित करके रुपया पैदा कर सकता है। यदि वह अच्छे लेखकों को उत्साहित करेगा तो वे अच्छी पुस्तकें उसके लिए ज़रूर लिखेंगे। इसमें उसे कुछ अधिक ख़र्च करना पड़ेगा। परन्तु बहुजन-मान्य पुस्तक प्रकाशित करने से लाभ भी उसे अधिक होगा। और यदि थोड़ा ही लाभ हो, तो भी उसे यह सोचकर सन्तोष करना चाहिए कि मैंने एक अनुपयोगी और दुर्नीति-वर्द्धक पुस्तक का प्रचार करके अपने देश-भाइयों की रुचि को नहीं ख़राब किया।

हर्ष की बात है, कुछ प्रकाशकों का ध्यान अब अच्छी-अच्छी देशोप-योगी पुस्तकों के प्रचार की तरफ़ गया भी है। हिन्दी और हिन्दुस्तान के हितचिन्तक पण्डित माधवराव सप्रे, बी० ए०, ने नागपुर में एक कम्पनी स्थापित की है। उसका उद्देश हिन्दी में अच्छे-अच्छे ग्रन्थ प्रकाशित करने का है। उसके प्रबन्ध से हिन्दी-ग्रन्थमाला नाम की एक मासिक पुस्तक निकलने लगी है। उसमें हिन्दी के अच्छे-अच्छे ग्रन्थ निकलने शुरू हुए हैं। यदि हिन्दी पढ़नेवाले उस पर कृपा करते रहें तो उसके द्वारा हिन्दी के उत्तमोत्तम ग्रन्थों के प्रचार की बहुत बड़ी आशा है।

कुछ समय से इंडियन प्रेस ने भी पुस्तक-प्रकाशन का काम जारी किया है। हिन्दी-लेखकों के लिए यह बहुत ही शुभ अवसर है। इंडियन प्रेस का काम कैसा है, उसका नाम कैसा है, उसका प्रबन्ध कैसा है—इस

विषय में कुछ भी कहने की ज़रूरत नहीं। अकेली "सरस्वती" या अकेला "रामचरितमानस" ही इन बातों की उत्कृष्ट सरटीफ़िकेट है। हाँ, इतना हम ज़रूर कह देना चाहते हैं कि सब विषयों में विशेषता होने ही के कारण इन प्रान्तों की गवर्नमेंट ने, अनेक देशी और विदेशी पुस्तक-प्रकाशकों के साथ प्रतियोगिता में, इंडियन प्रेस ही को श्रेष्ठता दी है और उसीकी हिन्दी पाठ्यपुस्तकें अपर और लोअर प्राइमरी स्कूलों में जारी करने के लिए मंज़ूर की हैं।

प्रकाशक अच्छा होने से ग्रन्थ और ग्रन्थकार दोनों की अधिक क़दर होती है। पुस्तक अच्छी छपती है और उसका प्रचार अधिक होता है। इससे ग्रन्थकार की विशेष यशोवृद्धि होती है। जो अच्छे लेखक हैं वे अच्छे ही प्रकाशकों को अपनी पुस्तकें देते हैं। औरों के लिए लिखना वे अपने विरद के विरुद्ध समझते हैं। उत्तरी ध्रुव अथवा विकास-सिद्धान्त पर लेख लिखने के लिए चाहे कोई बरसों विज्ञापन दिया करे और चाहे वह जितने पदक देने का लालच दिखावे, कोई उसके लिए क़लम न उठावेगा। मतलब यह कि अच्छा प्रकाशक, अच्छे ग्रन्थकारों को बड़े भाग्य से मिलता है। यदि ऐसे प्रकाशक से कुछ लाभ की भी आशा हो तो फिर सोने में सुगन्ध समझना चाहिए।

इंडियन प्रेस, प्रयाग, ने धार्म्मिक, सामाजिक, ऐतिहासिक, औपन्यासिक वैज्ञानिक—सभी विषयों पर पुस्तक-प्रकाशन करने की घोषणा की है। यही नहीं, किन्तु संस्कृत-ग्रन्थों के अनुवाद प्रकाशित करने का भी सङ्कल्प उसने किया है। परन्तु पुस्तकें उपयोगी होनी चाहिएँ। हिन्दी-लेखकों के ग्रन्थ-प्रकाशन-मार्ग में जो बाधायें थीं उन्हें इस प्रेस के परमोत्साही, और बङ्गवासी होकर भी हिन्दी के हितैषी, स्वामी ने एकदम दूर कर दिया। अब भी उनके इस औदार्य्य से यदि हिन्दी में उपयोगी ग्रन्थ लिखकर लोग लाभ न उठावें तो हम यही कहेंगे कि

हिन्दी के दुर्भाग्य की चिकित्सा ही नहीं हो सकती। वह बिलकुल ही असाध्य हो गया है। ईश्वर करे, हमारी यह सम्भावना ग़लत निकले।

[जनवरी १९०८

१३—समाचार-पत्रों का विराट् रूप

हे विराट्-स्वरूपिन् समाचारपत्र ! आप सर्वान्तर्य्यामी साक्षात् नारायण हैं। वृत्तपत्र, वर्त्तमानपत्र, समाचार-पत्र, गैज़ट, अख़बार आदि आपके अनेक नाम और रूप हैं। अतः—"अनेकरूपरूपाय विष्णवे प्रभविष्णवे"—आपको प्रणाम।

२—पत्र-व्यवहार अथवा चिट्ठी-पत्री आपके पादस्थान में हैं। आप अपने विराट् पाद-प्रहार से उसका मर्दन किया करते हैं; अथवा रद्दी काग़ज़ों की टोकरी में फेंका करते हैं। पत्र-व्यवहार करनेवालों, या चिट्ठी-पत्री लिखनेवालों को उत्तर देना, या न देना, आपके पाद ही की कृपा या अनकृपा पर अवलम्बित रहता है।

३—चुटकुले और हँसी-ठट्ठे की बातें आपके जंघास्थान में हैं। क्यों ? इसे आप ख़ुद समझ जाइए।

४—समाचार, नये-नये समाचार, विचित्र समाचार और स्फुट समाचार आपके उदरस्थान में हैं। इन्हीं से आपका प्रकाण्ड, प्रलम्ब और प्रसृत पेट अकसर भरा रहता है। यदि और कुछ भी न हो तो भी आपका विराट् रूप इन्हीं के सहारे थँभा रहता है।

५—किसी तरह रुपया कमाने के लिए किताबें और दवाइयाँ बेचने, घड़ियाँ मरम्मत करने और ऐजंसी इत्यादि खोलने की युक्तियाँ निकालते रहना आपके हृदय-स्थान में है।

६—छोटे बड़े, तरह तरह के लीडर (टिप्पणियाँ) आपके पृष्ठ-स्थान में हैं। उन्हें आपकी पीठ की रीढ़ कहना चाहिए। जो वे न हों तो आपका विराट् रूप कुबड़ा हो जाय।

७—विज्ञापन की छपाई और अपने मूल्य आदि के नियम आपके बाहुस्थान में हैं; क्योंकि उनकी घोषणा आप सब से पहले ऊर्ध्वबाहु होकर करते हैं।

८—स्थानीय समाचार आपके कण्ठ-स्थान में हैं।

९—मुख्य लेख आपके मुख-स्थान में है।

१०—अपने प्रेस की पुस्तकों के विज्ञापन आपके नेत्र-स्थान में हैं; क्योंकि उनकी तरफ़ आपकी हमेशा निगाह रहती है।

११—अँगरेज़ी अख़बारों से लेख, ख़बरें और तसवीरें नक़ल कर लेना आपके शीर्ष-स्थान में है। इस काम को आप सिर के बल करते हैं।

१२—अग्रिम मूल्य आपके परमानन्द-स्थान में है।

१३—पश्चात् मूल्य आपके क्लेश-स्थान में है।

१४—प्रेस (छापाख़ाना) आपके मन्दिर-स्थान में है।

१५—छापने की कल या मैशीन आपके मातृ-स्थान में है।

१६—छापनेवाले, प्रेसमैन, या मैशीनमैन, आपके पितृ-स्थान में हैं।

१७—टाइप आपके अस्थि-स्थान में है।

१८—स्याही आपके शोणित-स्थान में है।

१९—कागज़ आपका स्थूल और लेख आपका सूक्ष्म शरीर है।

२०—अन्तरात्मा आपका धर्म्म, अथवा धर्म्म के नाम से जो कुछ आप समझते हैं, वह है। उसके ख़िलाफ़ किसी के कुछ कहने, या उस पर दोषों का आरोप करने, से आपकी आत्मा तड़पने लगती है; जलते हुए अङ्गारों से भुन सी जाती है। कुछ शान्त होने पर जो आप सन्निपात

की जैसी जल्पना (Delirium) शुरू करते हैं तो बरसों आपका मुँह नहीं बन्द होता। धर्म्म पर आघात, व्याघात, प्रतिघात और प्रत्याघात का शोर मचाते हुए लेख लेख लेख—लेख पर लेख, आप लिखते ही चले जाते हैं।

२१—नीति (पालिसी) आपकी घोर अन्धकार में पड़े रहना; पर दूसरों को उजेले में खींच लाने के लिए जी-जान से उतारू रहना; मज़मून पर मज़मून लिखते जाना; भारत के ग़ारत होने, पुरानी रीति-रवाज के डूबने और अँगरेज़ी-शिक्षा के पेड़ में कड़वे फल लगने की आठ पहर चौंसठ घड़ी पुकार मचाना; और समुद्र-यात्रा का नाम सुनते ही जाल में फँसे हुए हिरन की तरह घबरा उठना है।

२२—विद्वत्त्व आपका वह है जिसे दत्त, तिलक और टीवो वग़ैरह के, आपकी समझ के ख़िलाफ़, कुछ कह डालने पर, आप प्रकट करते हैं। फिर चाहे आप वेद का एक मन्त्र भी सही सही न पढ़ सकें, अथवा दर्शनों, पुराणों, स्मृतियों और उपनिषदों की एक सतर का भी मतलब न समझ सकें, पर आप ऐसी ऐसी तर्कना, वितर्कना और कुतर्कनायें करते हैं और ऐसी ऐसी आलोचनायें, पर्य्यालोचनायें और समालोचनायें लिखकर इन लोगों के धुर्रे उड़ाते हैं कि आपकी पाण्डित्य-प्रभा संसार के सारे संस्कृत-पण्डितों की आँखों में चकाचौंध पैदा कर देती है।

२३—अन्नदाता आपके लुधियाना, लाहोर, अलीगढ़, मुरादाबाद और झाँसी आदि के मित्र, गुप्त और प्रसुप्त इत्यादि प्रकट, अप्रकट और प्रकटाप्रकट नामधारी विज्ञापनबाज़ हैं। इन कोकशास्त्री, रतिशास्त्री और कामशास्त्री जीवों के दर्शन अन्धी खोपड़ी के आदमियों को बहुत ही दुर्लभ हैं। कई वर्ष हम मुरादाबाद में रहे और झाँसी में भी हमने अनेक चक्कर लगाये; परन्तु इन पुण्यात्माओं का दर्शन हमें नसीब न हुआ।

२४—जीवनी-शक्ति आपकी सैकड़ों तरह के ताम्बूल-बिहार के; हज़ारों तरह के उपदंशहारक, प्रमेहमारक, शुक्रकारक दवाओं के; लाखों

तरह के वीसा, पच्चीसा, तीसा यन्त्र और उड्डीस, सावर, बृहत्सावर, महाबृहत्सावर तन्त्रों के अजीव अजीव विज्ञापन हैं।

२५—बल आपका उपहार है। अगर आप उपहार को बाँट कर अपने बल को क़ायम रखने या बढ़ाने की चेष्टा पर चेष्टा न करते रहें तो शीघ्र ही आपको घुटने थामकर उठने, या खड़े रहने, की ज़रूरत पड़े। इसीलिए आपको उपहार का बहुत बड़ा ख़याल रहता है और उसकी तारीफ़ लिखने में आप सहस्रबाहु हो जाते हैं।

२६—खेल आपका टेबल, आलमारी, ताक़, सन्दूक़ और चारपाई पर पड़े हुए सामयिक साहित्य, पुस्तक, ग्रन्थ, किताब, अख़बार वग़ैरह की समालोचना है। खेल क्या यह तो आपकी एक अद्भुत लीला है। कभी आप किसी किताब की छपाई की तारीफ़ करते हैं; कभी उसके काग़ज़ की; और कभी उसके लिखनेवाले की। भूल से कभी आप उसके गुण-दोष की भी एक-आध बात कह डालते हैं। एक बात आप में अजीब है। वह यह कि अंगरेज़ी चाहे आप राम का नाम ही जानते हों, पर ज़रूरत पड़ने पर बेकन, बाइरन, कारलाइल, मिल्टन और शेक्स-पियर के ग्रन्थों का भी मर्म आप ख़ूब समझ लेते हैं और समझा भी देते हैं। वेदों पर भी आप व्याख्यान दे डालते हैं; दर्शन शास्त्रों का सिद्धान्त भी आप समझ लेते हैं; इँगलैंड तथा हिन्दुस्तान के बड़े-बड़े विद्वानों की पोलिटिकल वक्तृताओं को भी आप अपने आलोचना-कुठार से काट कर छिन्न-भिन्न कर डालते हैं।

२७—देशोपकार आपका पुत्र; धर्म्मरक्षा आपकी कन्या; अच्छी अच्छी पुस्तकों की प्राप्ति आपकी पत्नी; और ऐसी-वैसी पुस्तकें और ओषधियाँ आपकी दासियाँ हैं।

२८—सम्पादक आपके दोस्त और मुफ्त पढ़नेवाले आपके जानी दुश्मन हैं।

२९—पताका आपकी हिन्दुस्तान की हित-चिन्ता; नक्कारा आप का अज्ञान की गहरी नींद में सोये हुओं को जगाना; पराक्रम आपका सनातन-धर्म्म की साफ़ सड़क से भटके हुओं को रास्ता बतलाना है।

३०—ऐसे आपके इस व्यापक विराट् रूप का हम त्रिकाल ध्यान करते हैं। आपकी तीन त्रिगुणात्म मूर्त्तियां हैं—प्रत्याहिक, साप्ताहिक और पाक्षिक। मासिक और त्रैमासिक आपके लीलावतार हैं। ऐसे लीलामय आपके विकट विराट् रूप को छोड़कर हम—"कस्मै देवाय हविषा विधेम ?"

स्तावकास्तव चतुर्मुखादयो
भावुकाश्च भगवन् भवादयः।
सेवकाः शतमखादयः सुरा
वृत्तपत्र! यदि, के तदा वयम् ?

[नवंबर १९०४

१४—सम्पादकीय योग्यता

ग्रैंड मैगेज़ीन नाम की एक मासिक पत्रिका अँगरेज़ी में निकलती है। उसमें एक लेख निकला है। उस लेख में वर्तमान समय के विद्वानों और मुख्य मुख्य समाचारपत्रों के सम्पादकों की इस विषय में सम्मतियाँ प्रकाशित हुई हैं कि समाचार-पत्रों की कामयाबी के लिए सम्पादक में कौन कौन गुण होने चाहिएँ। विषय बड़े महत्त्व का है। इससे कुछ सम्मतियों का संक्षिप्त भावार्थ हम यहाँ पर प्रकाशित करते हैं। आशा है, हिन्दी के समाचार-पत्रों और पत्रिकाओं के सम्पादकों के लिए ये सम्मतियाँ उपदेशजनक नहीं, तो मनोरञ्जक ज़रूर होंगी—

सर ड्यू गिलज़ीन-रीड कहते हैं—"सम्पादक का पद पाना सौभाग्य की बात है। सम्पादकों के कर्त्तव्य एक नहीं, अनेक हैं। उन्हें पूरी-पूरी स्वाधीनता रहती है। ज़िम्मेदारी भी उन पर कम नहीं रहती। जिसने एक दफ़े यह काम किया उसे इसमें कुछ ऐसा आनन्द मिलता है कि उसका उत्साह बढ़ता ही जाता है। इस काम के लिए लड़कपन ही से सम्पादकीय शिक्षा की ज़रूरत होती है। इसके लिए धैर्य्य दरकार है। जल्दी करने से कामयाबी नहीं होती"।

"मुख्य बात तो यह है कि सम्पादक बनाने से नहीं बनता; उसके लिए जिन गुणों की अपेक्षा होती है वे जन्म ही से पैदा होते हैं। साहित्य का उत्तम ज्ञान, दूरदर्शिता और व्यापक दृष्टि आदि बातें तजरिबे और अध्ययन से प्राप्त हो सकती हैं, पर सम्पादकीय कार्य में कामयाबी की कुंजी मनुष्य माँ के पेट ही से लाता है"।

रिव्यू आफ़ रिव्यूज़ के सम्पादक, स्टीड साहब, कहते हैं—"सम्पादक का पहला गुण यह होना चाहिए कि प्रत्येक विषय का उसे अच्छा परिज्ञान हो; चाहे जो विषय हो उस पर लेख लिखने में उसे आनन्द मिले और जिस विषय की वह चर्चा करे जी-जान होम कर करे; किसी बात की कसर न रक्खे"।

"दूसरा गुण सम्पादक में यह होना चाहिए कि जिस विषय पर उसे कुछ लिखना हो उस विषय का उसे पूरा-पूरा ज्ञान हो। तत्सम्बन्धी अपने विचारों को वह ख़ूब अच्छी तरह, निश्चयपूर्वक, अपने मन में स्थिर कर ले। इसके बाद वह उन विचारों को इस तरह साफ़-साफ़ प्रकट करे कि महामूर्ख आदमी भी उसकी बातें सुनकर उसके दिली मतलब को समझ जाय। ऐसा न हो कि उसका मतलब कुछ हो, पर पढ़नेवाले कुछ और ही समझें"।

"सम्पादक के लिए एक और बात की भी ज़रूरत है। वह यह कि उसे सोना अच्छी तरह चाहिए। यदि किसी कारण से किसी रात को कम नींद आवे तो मौक़ा पाते ही उस कमी को किसी और रात को पूरा कर लेना चाहिए"।

"इसके कहने की मैं कोई ज़रूरत नहीं समझता कि सम्पादक के लिए अच्छे स्वास्थ्य, विशेष परिश्रम और उत्तम बुद्धिमत्ता आदि की भी आवश्यकता है। ये गुण तो होने ही चाहिएँ। हाँ, एक बात की मैं सब से अधिक ज़रूरत समझता हूँ। सम्पादक की विचारशक्ति इतनी तीव्र होनी चाहिए कि सूक्ष्म से सूक्ष्म बात भी उसके ध्यान में आ जाय।"

ब्यलफ़ास्ट न्यूज़ लेटर के सम्पादक, सर जेम्स हेंडरसन, कहते हैं—"समालोचना करने की शक्ति; जिस विषय का विचार चला हो उसे ऐसी चित्ताकर्षक भाषा में लिखना, जिसे पढ़ते ही पढ़नेवाले का

चित्त उस तरफ़ खिँच जाय और उसे पढ़े विना उससे न रहा जाय; किसी वक्तृता अथवा किसी विशेष घटना पर विचार करते समय उसकी सब से अधिक महत्त्वपूर्ण बातों का ध्यान में आ जाना; उत्तम शिक्षा, और विद्या की प्रत्येक शाखा का जहाँ तक हो अधिक ज्ञान—इन्हीं गुणों की सम्पादक के लिए सब से अधिक आवश्यकता है। इनके विना सम्पादक का काम अच्छी तरह नहीं चल सकता"।

व्यस्ट मिनिस्टर गैज़ट के सम्पादक, जे० ए० स्पेंडर, की राय है—"लिखने की अच्छी योग्यता; दृढ़प्रतिज्ञा; जिस समाचार-पत्र से उसका सम्बन्ध हो, अथवा जिसके लिए उसे लेख लिखने पड़ते हों, उसके सिद्धान्तों के अनुसार अपनी बुद्धि से काम लेने की शक्ति और व्यवसाय तथा व्यवहार-सम्बन्धी बातों का यथेष्ट ज्ञान। जीवन-सम्बन्धी और सामाजिक बातों में तजरिबे का होना तथा साहस। नये सम्पादक के लिए इन्हीं गुणों की आवश्यकता होती है। इनके होने से वह अपने व्यवसाय में कामयाब हो सकता है"।

पालमाल गैज़ट के सम्पादक, सर डगलस स्ट्रेट, कहते हैं—"और मामूली बातों के सिवा, नये सम्पादक को सख़्त काम और नाउम्मेदी का सामना करने के लिए भी हमेशा तैयार रहना चाहिए। उसे अपने कर्त्तव्य का सब से अधिक ख़याल होना चाहिए। जिस काम में वह हाथ डाले उसे जी-जान से करना चाहिए"।

पीपुल के सम्पादक, गोज़े हटन, अपनी सम्मति में सर एडविन आर्नल्ड के ये वाक्य उद्धृत करते हैं—

"सम्पादक के लिए सब प्रकार की विद्या, ज्ञान और तजरिबे की ज़रूरत होती है। कोई बात ऐसी नहीं जिसका उपयोग उसे न होता हो"। हटन साहब की निज की राय यह है कि सब प्रकार की शिक्षा—विशेष कर के व्यापार-विषयक—सम्पादक के बड़े काम आती है। इन

की भी राय है कि सम्पादकीय गुण मनुष्य को जन्म ही से प्राप्त होते हैं; उपार्जन करने से नहीं मिलते।

एक विद्वान् का नाम है एम० एच० स्पीलमन। आप ललित कलाओं का अच्छा ज्ञान रखते हैं और उनकी समालोचना करने में सिद्धहस्त हैं। आपको सम्पादकीय बातों का भी उत्तम अनुभव है। आप सम्पादक के लिए इन बातों की आवश्यकता समझते हैं—"अच्छा स्वास्थ्य, अच्छा चालचलन, शिष्टाचार, सब से मेलजोल, सब बातों में विश्वासपात्रता, किसी बात पर कुछ लिखते समय सत्यता का ख़याल, सब विषयों का थोड़ा-बहुत ज्ञान, लिखने की योग्यता और समझ-बूझकर उत्साह-पूर्वक अपना काम करने की शक्ति"।

स्काटस्मैन के भूतपूर्व सम्पादक, सी० ए० कूपर, की राय है—"सम्पादकीय काम करने की स्वाभाविक प्रवृत्ति, इतिहास और प्रसिद्ध प्रसिद्ध काव्य-ग्रन्थों का ज्ञान, प्रकृत विषय में बुद्धि को संलग्न करने की शक्ति, हर एक बात की आलोचना करने की योग्यता, यथार्थ कथन की आदत, तर्कशास्त्रानुमोदित विचार-परम्परा और परिश्रम"।

मैनूचेस्टर गार्जियन के सम्पादक, सी० पी० स्काट, कहते हैं कि सिर्फ़ एक ही बात ऐसी है जिस के बिना कोई आदमी सम्पादकीय काम नहीं कर सकता। वह बात है "दिमाग़"। अर्थात् अच्छे ही दिमाग़ का आदमी सम्पादकीय काम को योग्यता से कर सकता है।

जितने मुँह उतनी बातें! फिर भी कुछ बातें ऐसी हैं जो एक दूसरे की राय से मिलती भी हैं। कुछ हो। इन बड़े-बड़े सम्पादकों की बातें हम लोगों के विचार करने लायक़ ज़रूर हैं। इसीसे हमने इनके कथन का स्थूल भावार्थ प्रकाशित करना उचित समझा।

[जून १९०७

१५—सम्पादकों के लिए स्कूल

कुछ दिन हुए अख़बारों में यह चर्चा हुई थी कि अमेरिका में सम्पादकों के लिए एक स्कूल खुलनेवाला है। इस स्कूल का बनना शुरू हो गया और, इस वर्ष, इसकी इमारत भी पूरी हो जायगी। आशा है कि स्कूल इसी वर्ष जारी भी हो जाय। अमेरिका के न्यूयार्क प्रान्त में कोलम्बिया नामक एक विश्वविद्यालय है। वही इस स्कूल को खोल रहा है। जैसे क़ानून, डाक्टरी, इञ्जिनियरी और कला-कौशल आदि के अलग-अलग स्कूल और कालेज हैं; और अलग-अलग हो कर भी किसी विश्व-विद्यालय से सम्बन्ध रखते हैं, वैसे ही सम्पादकीय विद्या सिखलाने का यह स्कूल भी कोलम्बिया के विश्व-विद्यालय से सम्बन्ध रखेगा। संसार में इस प्रकार का यह पहला ही स्कूल होगा।

और कोई देश ऐसा नहीं जिसमें अमेरिका के बराबर अख़बार निकलते हों। मासिक और साप्ताहिक अख़बारों को जाने दीजिए, केवल दैनिक अख़बार वहाँ से २००० से भी अधिक निकलते हैं। इतने दैनिक अख़बार दुनिया में कहीं नहीं निकलते। जहाँ अख़बारों का इतना आधिक्य है वहाँ अख़बारनवीसी का स्कूल खोलने की यदि ज़रूरत पड़े तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। अमेरिका में जैसे और व्यवसाय—रोज़गार हैं—वैसेही अख़बार लिखना भी एक व्यवसाय है। जो लोग इस व्यवसाय को करना चाहेंगे वे इस स्कूल में दो वर्ष तक रहकर सम्पादकीय विद्या सीखेंगे। जो लोग इस समय सम्पादकता कर भी रहे हैं वे भी इस स्कूल

में, कुछ काल तक रहकर, सम्पादन-कला में कुशलता प्राप्त कर सकेंगे। इस स्कूल के लिए बीस लाख डालर धन एकत्र किया गया है; और पचास हज़ार डालर लगाकर इसकी इमारत बन रही है। हारवर्ड-विश्वविद्यालय के सभापति, इलियट साहब, से पूछा गया था कि इस स्कूल में कौन-कौन विषय सिखाये जायँ। इलियट साहब ने विषयों की नामावली इस प्रकार दी है—

प्रबन्ध-विषय—दफ्तर की स्थिति-स्थापकता; प्रकाशक के कर्त्तव्य; अख़बार का प्रचार; विज्ञापन-विभाग; सम्पादकीय और सम्वाददाताओं का विभाग; स्थानीय, बाहरी और विदेशी समाचार-विभाग; साहित्य और समालोचना-विभाग; राज-कर-विभाग; खेल-कूद और शारीरिक व्यायाम-विभाग। इन सब विभागों के विषय में अच्छी तरह से शिक्षा दी जायगी और प्रत्येक विषय की छोटी से भी छोटी बातों पर व्याख्यान होंगे।

कला-कौशल (कारीगरी) विषय—छापना, स्याही, काग़ज़, इलेक्ट्रो-टाइपिंग, स्टीरियो टाइपिंग, अक्षर-योजना, अक्षर ढालना, चित्रों की नक़ल उतारना, जिल्द बाँधना, काग़ज़ काटना और सीना इत्यादि।

क़ानून-विषय—स्वत्व-रक्षण-(कापी-राइट)-विधि; दीवानी और फ़ौज-दारी मान-हानि-विधि; राजद्रोह-विषयक विधि; न्यायालय के कार्यों का समालोचना-सम्बन्धी कर्त्तव्य; सम्पादक, प्रकाशक, लेखक और सम्वाददाताओं की ज़िम्मेदारी का विधान। सम्पादकीय कर्त्तव्याकर्त्तव्य अथवा नीतिविद्या। सम्पादकों की सर्वसाधारण से सम्बन्ध रखनेवाली ज़िम्मेदारी का ज्ञान। समाचारों को प्रकाशित करने में समाचारपत्रों के सम्पादक और स्वामी के मत-प्रदर्शन की सीमा। मत प्रकट करने में सम्पादक, प्रकाशक और सम्वाददाताओं का परस्पर सम्बन्ध।

अख़बारों का इतिहास। अख़बारों की स्वतन्त्रता इत्यादि।

फुटकर बातें—सर्व-सम्मत से स्वीकार किये गये विराम-चिन्ह, वर्ण-विचार, संक्षेप-चिन्ह, शोधन-विधि आदि। पैराग्राफ़ और सम्पादकीय

लेख लिखना; इतिहास, भूगोल, राज-कर, राज्य-स्थिति, देशव्यवस्था, गार्हस्थ्य-विधान और अर्थशास्त्र आदि के सिद्धान्तों के अनुसार प्रस्तुत विषयों का विचार करना ।

इलियट साहब का मत है कि सम्पादक के लिए इन सब बातों का जानना बहुत ज़रूरी है । सत्य की खोज में जो लोग रत रहते हैं उनकी भी अपेक्षा सम्पादकों के लिए अधिक शिक्षा दरकार है । आज-कल के सम्पादकों में सब से बड़ी न्यूनता यह पाई जाती है कि वे सत्य को जानने में बहुधा हत-सफल होते हैं; उनमें इतनी योग्यता ही नहीं होती कि वे यथार्थ बात जान सकें । इतिहास के तत्व और दूसरे शास्त्रों के मूल सिद्धान्तों को भली भाँति न जानने के कारण सम्पादक लोग कभी-कभी बहुत बड़ी ग़लतियाँ कर बैठते हैं ।

सम्पादकों के लिए एक और भी गुण दरकार होता है । वह है लेखन-कौशल । इसका भी होना बहुत आवश्यक है । इसके बिना अख़बारों का आदर नहीं हो सकता । यह कौशल स्वाभाविक भी होता है और सीखने से भी आ सकता है । जिनमें लेखन-कला स्वभाव-सिद्ध नहीं होती उनको शिक्षण से तादृश लाभ नहीं होता । परन्तु स्वभाव-सिद्ध लेखकों को शिक्षण मिलने से उनकी लेखन-शक्ति और भी तीव्र हो जाती है ।

इलियट साहब ने सम्पादक के लिए जिन-जिन विषयों का ज्ञान आवश्यक बतलाया है उनका विचार करके, हम हिन्दी के समाचार-पत्र और मासिक पुस्तकों के सम्पादकों को, अपनी योग्यता का अनुमान करने में बहुत बड़ी विषमता दृग्गोचर होती है । अमेरिका के समान सभ्य और शिक्षित देश में जब सम्पादकों को उनका व्यवसाय सिखलाने की ज़रूरत है तब अर्द्धशिक्षित देशों की क्या कथा ? इस दशा में, बेचारा भारतवर्ष किस गिनती में है ?

[जनवरी १९०४

१६—अमेरिका के अख़बार

संसार में समाचार-पत्रों का प्रभाव दिन पर दिन बढ़ता जाता है। पश्चिमी देशों में तो यहाँ तक नौबत पहुँची है कि वे राज्य का एक स्तम्भ माने जाते हैं और उनका पढ़ना वहाँ वालों की दिनचर्य्या में शामिल हो गया है। इस प्रकार के देशों में अमेरिका का नम्बर पहला है। वहाँ इस समय सब मिलाकर साढ़े बारह हज़ार अख़बार निकलते हैं। उनमें से एक हज़ार तो दैनिक हैं। इसके सिवा एक सौ बीस अख़बार ऐसे हैं जिनके स्वामी, सम्पादक और प्रकाशक केवल हब्शी हैं।

अमेरिकावाले अख़बारों के बड़े शौक़ीन हैं। अमीरों और नगर-निवासियों की तो बात ही नहीं, दरिद्र और देहाती तक नित्य मोल लेकर अख़बार पढ़ते हैं। वहाँ के अख़बारों की उन्नति का यही मुख्य कारण है। वहाँ शायद ही कोई गाँव ऐसा होगा जहाँ से कोई न कोई दैनिक, साप्ताहिक या मासिक पत्र न निकलता हो। शहरों का तो कहना ही क्या है, उनमें तो महल्ले-महल्ले से दैनिक पत्र निकलते हैं।

साधारण समाचार-पत्रों के सिवा वहाँ प्रत्येक राजनैतिक दल, धार्म्मिक सम्प्रदाय, पेशे और सभा-समाज के जुदे-जुदे पत्र निकलते हैं। इसके सिवा बालकों, स्त्रियों और हबशियों के भी अलग-अलग पत्र निकलते हैं, जिनमें उन्हींके मतलब की बातें रहती हैं। विद्या, कला और विज्ञान की भिन्न-भिन्न शाखाओं के भी भिन्न-भिन्न पत्र प्रकाशित होते हैं। शिल्प या व्यापार-सम्बन्धी कम्पनियों और राजकीय विभागों के पत्र अलग ही

निकलते हैं। अमेरिका के विश्वविद्यालय भी अपने-अपने पत्र अलग-अलग निकालते हैं। अध्यात्मिक विषयों के पत्र भी कुछ दिनों से बहुत बढ़ गये हैं। मतलब यह कि अमेरिका में सब लोगों के काम के पत्र निकलते हैं।

अमेरिका में कुछ पत्र-सञ्चालकों को छोड़कर बाक़ी सब के पत्र निकालने का मुख्य उद्देश या तो किसी प्रकार का स्वार्थ-साधन होता है या धनोपार्जन। केवल परोपकार के लिए कोई पत्र नहीं निकालता। वे लोग पत्रों को निकालते इस ढँग से हैं कि सर्वसाधारण को ख़ूब रुचिकर हो। इसलिए उनके ग्राहकों की संख्या थोड़े ही दिनों में लाखों तक पहुँच जाती है। फल यह होता है कि स्वार्थ-सिद्धि के साथ-साथ प्रकाशकों को आर्थिक लाभ भी ख़ूब होता है। कोई-कोई तो थोड़े ही दिनों में करोड़-पति तक हो जाते हैं।

अमेरिका के बड़े-बड़े दैनिक समाचार-पत्रों के प्रकाशित करने का प्रवन्ध बहुत अच्छा है। पत्र-सम्बन्धी प्रत्येक काम के लिए एक-एक विभाग रहता है। प्रवन्ध-विभाग का काम आय-व्यय का हिसाब रखना है। विज्ञापन-विभाग का कर्त्तव्य विज्ञापनों को इकट्ठा करना, उन्हें उचित स्थान पर छपवाना और उनका लेखा रखना है। छपाई-विभाग छपाई-सम्बन्धी कुल काम करने का ज़िम्मेदार है। फ़ोटो लेने, चित्र, तसवीरें, नक़शे खींचने-बनाने, दिल्लगी के चित्र बनाने और उनके ब्लाक तैयार करने का काम चित्र-विभाग के सिपुर्द रहता है। बिक्री-विभागवाले कर्मचारी ग्राहकों और थोकबन्दी एजेंटों के पास पत्र भेजते हैं और नित्य बाज़ार में बेचने का प्रबन्ध करते हैं। लेख-विभाग कई हिस्सों में बँटा रहता है। नगर-सम्पादक का काम स्थानिक समाचार एकत्र करना है। संवाददाता लोग दिन भर नगर में घूमते, लोगों से मिलते और समाचार इकट्ठे करते रहते हैं। ज्योंही कोई समाचार मिला त्योंही उसे लिखकर नगर-सम्पादक को दे दिया। जो दैनिक पत्र सबेरे प्रकाशित

होते हैं उनके दो नगर-सम्पादक होते हैं। एक रात के लिए, दूसरा दिन के लिए। उनका काम यह है कि समाचार या लेख पाते ही जल्दी से देख जायँ और उस पर 'हेडिंग' दे दें। तब उसे "कापी-रीडर" लेता है और उसका संशोधन करता है। तार-विभाग केवल देश ही भर के नहीं, किन्तु संसार भर के समाचार इकट्ठा करता है। सम्पादकीय विभाग सम्पादकीय लेख और नोट तैयार करता है। साहित्य-विभाग का काम ऐसे लेख तैयार करना है जिनसे पाठकों का मनोरञ्जन हो। अर्थात् यह विभाग छोटी-छोटी आख्यायिका, उपन्यास, यात्रा-वृतान्त, किसी स्थल, नगर या जाति के वर्णन और चुटकुलों से पत्र को विभूषित करता है। इन सब विभागों की देख-भाल एक मैनेजिंग एडिटर करता है। इस पद पर वही आदमी नियुक्त किया जाता है जो समाचार-पत्र-सम्बन्धी कामों का ख़ूब अनुभव रखता हो। उसका मुख्य काम यह है कि पत्र-सम्बन्धी सब कामों पर निगाह रक्खे और यह देखे कि सब कर्मचारी अपना-अपना काम ठीक-ठीक करते हैं या नहीं। सब विभागों के मुख्य कर्मचारी नित्य सवेरे और शाम को एक जगह इकट्ठे होते हैं और इस बात पर वादानुवाद करते हैं कि कौन विषय किस तरह प्रकाशित करना चाहिए। अमेरिका के प्रत्येक बड़े-बड़े दैनिक पत्र के कार्यालय से हर इतवार को एक साप्ताहिक संस्करण भी निकलता है। उसके सम्पादकीय कर्म्मचारी दैनिक पत्र के कर्म्मचारियों से अलग रहते हैं।

यह हम पहले ही कह चुके हैं कि समाचार-पत्र-सञ्चालकों का कुछ न कुछ उद्देश ज़रूर होता है। यदि कोई ऐसा लेख लिखे जिससे उस उद्देश की पूर्त्ति में बाधा पड़ती हो तो वे उस लेख का भावार्थ एकदम बदल देते हैं और उसे अपने मतलब का बना लेते हैं। अभी हाल ही में "हिन्दुस्तान-रिव्यू" की दो संख्याओं में अमेरिका के अख़बारों पर एक लम्बा लेख प्रकाशित हुआ है। उसके लेखक सन्त निहालसिंह ने लिखा है कि—"एक

बार एक सम्पादक ने क़त्ल के एक मुक़द्दमे के विषय में विचार प्रकट करने के लिए मुझ से कहा। मैं लेख लेकर सम्पादक के पास गया। उसने उसे लेकर और लिखाई देकर मुझे बिदा कर दिया। दूसरे दिन लेख छपा। मैंने देखा कि उस लेख में मेरे हस्ताक्षर के सिवा मेरा कुछ नहीं है। मेरे लेख की भाषा और भाव बिलकुल बदल डाले गये थे। इसका कारण यह था कि इस मुक़द्दमे में जिसको मैंने दोषी ठहराया था उसे पत्र-सम्पादक बचाना चाहता था।" यद्यपि यह घृणित काम है तथापि अख़बारवाले इसकी कुछ परवा नहीं करते! वे नित्य ऐसी ही चालें चला करते हैं।

सन्त निहालसिंह का कथन है कि अमेरिका के सम्पादक और संवाददाता बड़े चालबाज़ होते हैं। इसके कई उदाहरण भी आपने दिये हैं। आप लिखते हैं कि—"पश्चिमी अमेरिका के एक नगर में एशिया-वालों को निकालने के लिए लोग व्याकुल थे। अख़बारों में इसकी धूम मची हुई थी। इसी समय एक एशिया-निवासी सज्जन वहाँ पधारे और एक बड़े भारी होटल में उतरे। एक अख़बार का संवाददाता आपसे मिलने गया और प्रश्न पर प्रश्न करने लगा। पर आपने कुछ उत्तर न दिया; केवल इतनी बात कही कि मैं अपने देश का राजकर्मचारी हूँ; इसीलिए किसी प्रश्न का उत्तर देना नहीं चाहता। संवाददाता धन्यवाद देकर चला गया। उसी दिन शाम को उस पत्र में एक एशियाई सज्जन से मुलाक़ात का वृत्तान्त निकला। उसमें लिखा गया कि यह एशियाई "भर्तीवाला" एजेन्ट है। अर्थात् अमेरिका में एशिया से जितने आदमी आते हैं उन्हें यही लाता है। ख़ैरियत यह हुई कि वे एशियाई महाशय वहाँ से चुप-चाप तुरन्त खिसक गये; नहीं तो न मालूम वे लोग उनकी कैसी दुर्दशा करते।" आप ही के शब्दों में एक और क़िस्सा सुनिए—

"एक बार एक संवाददाता मेरे पास आया और हिन्दुस्तानी स्त्री-पुरुषों की तसवीरवाले कार्ड मुझसे माँगने लगा। मैंने चार पाँच कोड़ी कार्ड

दिखा दिये। इनमें से साड़ी पहने हुए पारसी स्त्री की तसवीरवाला एक कार्ड उसने पसन्द किया और उसे एक घण्टे के लिए माँगा।. मैंने पूछा कि इसे क्या करोगे? इस पर उसने कहा—'दफ्तर के कुछ लड़कों से बाज़ी लगी है। वे कहते हैं कि पारसी स्त्रियाँ कमीज़ और पतलून पहनती हैं और मैं कहता हूँ कि ऐसा नहीं है।'. पौन घण्टे से भी कम समय में वह पोस्टकार्ड लेकर लौट आया। उसके चेहरे पर प्रसन्नता झलक रही थी। मैं समझ गया कि वह बाज़ी जीत गया। उसने पन्दरह रुपये का एक बिल दिखलाया और कहा कि यही मैंने जीता है। इसके बाद धन्यवाद देकर वह चला गया। इस घटना को मैं भूल गया था। पर कुछ ही घण्टों में मेरे एक मित्र ने एक अख़बार के एक लेख की तरफ़ मेरा ध्यान आकृष्ट किया। उसमें लिखा था कि इस शहर में पारसी-जाति की एक बाग़ी औरत आई है। इसके सिवा जो तसवीर मैंने उस संवाददाता को दी थी उसकी ख़ूब लम्बी-चौड़ी नक़ल भी उसमें छपी थी। उस तसवीर के नीचे लिखा हुआ था कि हिन्दुस्तान से आई हुई बाग़ी औरत का यह अन्तिम फ़ोटोग्राफ़ है।"

पर अमेरिकन लोग ऐसी धोखेबाज़ी में कैसे फँस जाते हैं, इसका मुख्य कारण यह है कि अमेरिका के साधारण जन कुछ बड़े बुद्धिमान् या विद्वान् नहीं होते। उनकी शिक्षा केवल प्रारम्भिक होती है। इसके सिवा अख़बारों को वे मन बहलाने की सामग्री समझते हैं। अख़बारों में जो लेख आश्चर्यजनक या कौतूहलवर्द्धक होते हैं केवल उन्हीं को वे लोग पढ़ते हैं, औरों को नहीं। उनकी स्मरणशक्ति भी बहुत कमज़ोर होती है। उन्हें यह भी याद नहीं रहता कि अमुक चित्र पहले छप चुका है या नहीं। अख़बारवाले इस कमज़ोरी से लाभ उठाते हैं। किसी मनुष्य, दृश्य या दुर्घटना के जो चित्र पहले छप चुके हैं उन्हीं को वे कुछ दिनों बाद दूसरे मनुष्य, दृश्य या दुर्घटना के बतलाकर प्रकाशित

करते हैं। जैसे, यदि कोई बड़ा आदमी मरा और उसका फ़ोटो तुरन्त न मिल सका तो वे लोग उसी की जैसी सूरत वाले दूसरे मनुष्य का चित्र छाप देंगे और यह प्रकट करेंगे कि ख़ास मरे हुए मनुष्य का यह सब से ताज़ा फ़ोटोग्राफ़ है। इसी तरह यदि बीच समुद्र में कोई जहाज डूबा और शीघ्र ही उसका फ़ोटो न मिल सका तो किसी ऐसी ही पुरानी दुर्घटना के चित्रों के ब्लाक ढूँढ़े जाते हैं और उन्हें छापकर यह प्रकाशित किया जाता है कि अख़बार के ख़ास चित्रकार ने, मौक़े पर जाकर, इस दुर्घटना के दृश्यों के फोटोग्राफ़ लिये हैं। सन् १९०६ में सान-फ्रांसिस्को नगर में बड़ी भयङ्कर आग लगी थी। उसके सम्बन्ध में भी एक अख़बार-वाले ने ऐसी ही जालसाज़ी की थी; पर वह प्रकट हो गई। फल यह हुआ कि अख़बार के जिन कर्मचारियों के दोष से यह बात प्रकट हुई थी वे सब बरख़ास्त कर दिये गये। इसलिए नहीं कि उन्होंने जाल-साज़ी की, किन्तु इसलिए कि जालसाज़ी में वे कामयाब न हो सके।

अमेरिकन अख़बारों के संवाददाता ख़बरें एकत्र करने में बड़े ही प्रवीण होते हैं। अपने इस काम में वे लोग जैसा साहस, अध्यवसाय और उत्साह दिखलाते हैं उसका एक उदाहरण सुनिए। शिकागो की अदालत में क़त्ल का एक मुक़द्दमा चल रहा था। सारे देश में उसकी धूम मची हुई थी। लोग उसके समाचार जानने के लिए अत्यन्त उत्सुक रहते थे। हर एक अख़बार यही चाहता था कि सब से पहले मैं ही इसकी ख़बरें सर्वसाधारण को सुनाऊँ। फ़ैसले का दिन आने पर लोगों की उत्कण्ठा और भी बढ़ गई। प्रत्येक समाचार-पत्रवाला यह प्रयत्न करने लगा कि फ़ैसले की ख़बर सब से पहले उसी को मिले। इस उद्देश को पूरा करने के लिए एक अख़बार के तीन संवाददाताओं ने एक युक्ति निकाली। उसके अनुसार वे एक रस्सा और झूला लेकर अदालत में पहुँचे। जब जूरी लोग सलाह करने के लिए कमरे में बन्द कर दिये गये

तब वे पहरेदारों की नज़र बचाकर उस कमरे में छत पर चढ़ गये। कमरे के पीछे, अर्थात् इमारत के बाहरी तरफ़, हवा आने-जाने के लिए एक खिड़की थी। तीनों संवाददाता उसी ओर पहुँचे। मकान कई मंजिला था। बीच के एक खण्ड में खड़े होकर दो ने रस्सा पकड़ लिया; एक उसे साधकर कुछ दूर नीचे उतर गया और खिड़की के पास ठहरकर रस्से में बँधे हुए झूले पर बैठ गया। इस खिड़की से कमरे के अन्दर बन्द जूरियों की बातचीत अच्छी तरह सुन पड़ती थी। वहां वह पूरे पाँच घण्टे लटका रहा और जूरियों की काररवाई के नोट लेता रहा। दूसरे दिन उस अख़बार में, जिसके ये संवाददाता थे, जूरियों की कार-रवाई की विस्तृत रिपोर्ट छपी। उसे देखकर सब लोग दङ्ग रह गये। पहले तो अन्य अख़बारों ने इसे बनावटी बतलाया; पर इसकी सचाई का सबूत पाने पर चुप हो गये। दूसरे दिन अदालत में दूना पहरा बिठाया गया। पर संवाददाताओं ने बड़ी चतुरता की; वे कचहरी के एक कोने में छिप रहे। जब चारों तरफ़ ताले लग गये तब एक अन्य खिड़की से जूरियों की काररवाई सुनने लगे। रात भर जूरियों की बहस होती रही। संवाददाता भी वहीं डटे रहे। दूसरे और तीसरे दिन भी यही हाल रहा। अर्थात् न जूरियों की बहस समाप्त हुई और न संवाद-दाताओं ने पीछा छोड़ा। जब जूरियों की सलाह पक्की हुई तब संवाद-दाता वहाँ से टले। इधर उस अख़बार में जूरियों की प्रतिदिन की काररवाई रोज़-रोज़ प्रकाशित होती रही। पर लोगों की समझ में न आता था कि ये गुप्त बातें उसे कैसे मालूम हो जाती हैं; वे बड़े चक्कर में थे। असल बात मालूम होने पर केवल सर्वसाधारण ही ने नहीं, किन्तु जज ने भी संवाददाताओं के साहस और चतुरता की ख़ूब प्रशंसा की। पहले वे ५४ रुपये प्रति सप्ताह पाते थे; इस काम के पुरस्कार में उनकी तनख़ाह दूनी से भी अधिक कर दी गई।

दैनिक समाचारपत्रों में जो कुछ रहता है उसका अधिक भाग पत्र के आफ़िस में नहीं तैयार किया जाता। आख्यायिकायें, उपन्यास, यात्रावृत्तान्त, प्रहसन, चुटकुले, दिल्लगी के चित्र आदि अख़बारी सिंडीकेट (News paper syndicate) से ख़रीदे जाते हैं। सिंडीकेटों में ऐसे लेखक या चित्रकार नौकर रहते हैं जिनके लेख या चित्र सर्वसाधारण ख़ूब पसन्द करते हैं। इसके सिवा वे सुप्रसिद्ध उपन्यासकारों के उपन्यास भी ख़रीदते हैं और होशियार आदमियों को अन्य देशों में भेजकर उनसे यात्रा-वृत्तान्त भी लिखवाते हैं। यात्रा-वृत्तान्त लिखने वाला एक अमेरिकन लेखक एक सिंडीकेट से सफ़रख़र्च के सिवा डेढ़ लाख रुपये वार्षिक वेतन पाता है। बस, इसी तरह, इधर-उधर से इकट्ठा करके सिंडीकेट पूर्वोक्त लेख आदि अख़बारवालों को बेंच देते हैं।

यह तो हुई शहर के अख़बारों की बात। अब देहाती पत्रों का हाल सुनिए। उन लोगों को सिंडीकेटों से पत्र का अधिक भाग छपा-छपाया मिल जाता है। इसके सिवा देश-देशान्तरों की ख़बरें "समाचार-पत्र-समिति" के द्वारा मिल जाती हैं। बाकी रहीं स्थानिक ख़बरें, सो उनके लिए दो एक संवाददाता रख लिये जाते हैं। इस तरह उनका काम बड़े मज़े में चलता है। यहाँ पर हम यह कह देना चाहते हैं कि सिंडीकेट पत्र का जो छपा हुआ भाग बेचते हैं वह सादे काग़ज़ के मूल्य पर देते हैं। इसमें उनकी कोई हानि नहीं। क्योंकि उसमें लेखों के सिवा विज्ञापन भी रहते हैं। इन विज्ञापनों से इतनी अधिक आमदनी होती है कि यदि वे उसे मुफ़्त में भी दे डालें तो भी कुछ नुक़सान न हो। इसमें अख़बारवालों को भी लाभ रहता है। क्योंकि उन्हें अख़बार का तीन-चौथाई भाग छपा हुआ मिल जाने से छपाई नहीं लगती। अर्थात् छपाई के दाम और अधिकांश परिश्रम से वे बचे

रहते हैं। इस तरह देहाती अख़बारवाले थोड़ी मिहनत और थोड़े ख़र्च में अच्छे-अच्छे अख़बार निकाल सकते हैं और निकालते भी हैं।

सिंडीकेटों की तरह अख़बारी सभायें (News paper unions) भी यही काम करती हैं। फ़र्क केवल इतना ही है कि ये सभायें छपे हुए काग़ज़ों की जगह कम्पोज़ किये हुए लेखों के प्लेट बहुत कम दामों पर बेचती हैं। अख़बारवालों को केवल इतना ही काम करना पड़ता है कि उन्हें प्रेस पर जमाकर वे छाप देते हैं। इनके सिवा प्रकाशक-समितियाँ (Publicity Bureaus) भी अमेरिका भर में फैली हुई हैं। उनका काम प्रति सप्ताह अख़बारों में पत्र लिखना है। यह काम वे मुफ़्त करती हैं। इसका कारण यह है कि इन पत्रों में गुप्त विज्ञापन रहते हैं। जिन लोगों के विज्ञापन इनमें रहते हैं वही लोग इनके जीवन के आधार होते हैं।

केवल देहाती अख़बार ही नहीं, किन्तु मासिक पुस्तकें भी छपे हुए काग़ज़ों के बल पर प्रकाशित होती हैं। मासिक-पुस्तक-प्रकाशक लोग हर महीने लेख ख़रीद लेते हैं। ये सब लेख केवल छपे ही नहीं, किन्तु पुस्तकाकार बँधे भी होते हैं। केवल टाइटिल-पेज कोरा रहता है; उन पर प्रकाशक अपना नाम छाप देता है। इसके सिवा भीतर भी कुछ पृष्ठ कोरे रहते हैं, जिनमें प्रकाशक अपने मतलब के लेख, विज्ञापन आदि छापता है। इस तरह बहुत थोड़े परिश्रम और ख़र्च से मासिक-पुस्तक-प्रकाशक लोग अच्छा फ़ायदा उठाते हैं।

अमेरिका के अख़बारवाले अपने पत्रों का प्रचार बढ़ाने की तरकीब ख़ूब जानते हैं। इसीलिए वे चौंका देनेवाली ख़बरें, चित्र और कारटून प्रत्येक अङ्क में अवश्य प्रकाशित करते हैं। क्योंकि सर्वसाधारण उन्हें बहुत पसन्द करते हैं। इसके सिवा वे थोड़ी-थोड़ी सब तरह की बातें छापते हैं। इसलिए पत्रों को सब तरह के पेशे, विचार, रुचि और प्रवृत्ति के मनुष्य ख़रीदते और पढ़ते हैं। अमेरिकन लोग खेल-तमाशे के

बड़े शौक़ीन हैं। इसलिए सब अख़बारवाले खेल-तमाशे का एक जुदा स्तम्भ और जुदा सम्पादक रखते हैं। इस स्तम्भ में सब तरह के खेल-तमाशों के समाचार और लेख प्रतिदिन प्रकाशित होते रहते हैं। अख़बार भर में यह स्तम्भ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समझा जाता है। इसके 'हेडिंग' ख़ूब बड़े-बड़े अक्षरों में ऐसे ढँग से लिखे जाते हैं कि रास्ते में जो उन्हें देखता है उसी से अख़बार ख़रीदे और पढ़े बिना नहीं रहा जाता। इसके सिवा अख़बारवाले ग्राहक बढ़ाने की एक और भी तरकीब करते हैं। वह यह कि त्योहार के दिन पत्रों के रङ्ग-बिरङ्गे विशेष संस्करण निकालते हैं। उसे सर्वसाधारण बहुत पसन्द करते हैं और पत्र को अवश्य ख़रीदते हैं। इसलिए पत्र-प्रकाशक अख़बार के प्रचार बढ़ाने का ऐसा अच्छा मौक़ा हाथ से कभी नहीं जाने देते।

अख़बार की ख्याति बढ़ाने के लिए नित्य नई-नई तरकीबें निकलती रहती हैं। कोई समाचार-पत्र-प्रकाशक सर्वसाधारण को मुफ़्त में लेक्चर या गाना-बजाना सुनाने या थियेटर दिखाने का प्रबन्ध करता है; कोई मुफ़्त में बर्फ़ बाँटता है; कोई बच्चों को सेंत-मेत दवा देता है; कोई गरमी के मौसम में झील के किनारे आरामगाह बनवा देता है, जहाँ ग़रीबों के लड़कों की परवरिश की जाती है। कोई अख़बारवाला बेकार मनुष्यों और स्त्रियों की नौकरी मुफ्त में लगवा देता है। इसी तरह समाचार-पत्र-प्रकाशक लोग अपने-अपने पत्रों को अनेक उपायों से प्रसिद्ध करते हैं। कुछ पत्रवाले ऐसे भी हैं जो पुराने ढर्रे पर चलना ही पसन्द करते हैं। पर उनकी संख्या दिन पर दिन घटती जाती है।

[मार्च १९०९

१७—चीन के अख़बार

जिस देश में जितने ही अधिक समाचार-पत्र होते हैं वह उतनी ही अधिक उन्नत अवस्था में समझा जाता है। यदि इस विचार से देखा जाय तो मानना पड़ेगा कि चीन दिन पर दिन अधिकाधिक उन्नति करता जाता है। सात वर्ष पहले वहाँ चीनियों का एक भी अख़बार न था। परन्तु आज चीन में दो सौ से अधिक ऐसे अख़बार निकलते हैं जिनके स्वामी, सम्पादक और प्रबन्धकर्त्ता चीनी ही हैं। पेकिन महानगरी में एक ऐसा दैनिक पत्र है जिसका सम्पादन और प्रबन्ध केवल स्त्रियाँ ही करती हैं। इस पत्र का उद्देश स्त्रियों की दशा सुधारना है। चीन की गवर्नमेंट भी पत्रों के ग्राहक बढ़ाने और मूल्य इकट्ठा करने में ख़ास-ख़ास अख़बारवालों को मदद देती है। प्रान्तिक शासन-कर्त्ता भी इस काम में उनकी सहायता करते हैं। मंचूरिया के राज-प्रतिनिधि ने मकदन नगर के चौक में एक बड़ी भारी इमारत बनवाई है। वहाँ पर एक विद्वान् मुख्य-मुख्य समाचार-पत्रों को पढ़कर सर्वसाधारण लोगों को नित्य सुनाता है। पेकिन में भी कई पढ़े-लिखे आदमी गली-गली अख़बारों को ज़ोर-ज़ोर से पढ़ते फिरते हैं। इस प्रकार निरक्षर मनुष्यों को भी देश की दशा और संसार की मुख्य-मुख्य घटनाओं का ज्ञान हो जाता है।

चीनी अख़बार दो तरह के होते हैं। एक तो वे जो अत्यन्त पतले काग़ज़ पर एक ही तरफ़ छापे जाते हैं। दूसरे वे जो दोनों तरफ़ छपते हैं और जिनका काग़ज़ भी मोटा होता है। दूसरे प्रकार के अख़बारों को

लोग अधिक पसन्द करते हैं। इन पत्रों में विदेशी तार-समाचारों की अच्छी भरमार रहती है। इसके सिवा भिन्न-भिन्न विषयों पर सम्पादकीय लेख भी रहते हैं।

चीन अत्यन्त संरक्षणशील देश है। पर आजकल वहाँ बड़ी शीघ्रता से परिवर्त्तन हो रहा है। यह बात अख़बारों के लेखों की अपेक्षा विज्ञापनों से अधिक प्रकट होती है। एक उदाहरण लीजिए। अब तक चीन-देशवासी पृथिवी को चिपटी मानते थे। परन्तु अब चीनी समाचार-पत्रों में वर्तुलाकार पृथिवी के ग्लोबों (Globes) के विज्ञापन बहुत छपते हैं। इसी प्रकार अन्य सैकड़ों प्रकार की यूरोपियन चीज़ों के विज्ञापन, ठेठ चीनी अख़बारों में, धड़ाधड़ प्रकाशित होते हैं।

किसी-किसी अख़बार में चीनी भाषा के साथ-साथ अँगरेज़ी के भी कई "कालम" रहते हैं। वहाँ अँगरेजी भाषा का प्रचार दिन पर दिन बढ़ता जाता है। अँगरेज़ी में तार-समाचारों के सिवा शिक्षा, राजनीति और समाज-सुधार-सम्बन्धी लेख भी रहते हैं। इससे मालूम होता है कि चीन-देशवासी अब जाग उठे हैं और समझने लगे हैं कि हमारी क्या दशा है और हमें क्या करना चाहिए।

उन्नति की इच्छा रखनेवाली अन्य जातियों की तरह चीनी जाति के शिक्षित युवक भी अपने देशवासियों को जगाने का प्रयत्न कर रहे हैं। इन लोगों के इस उद्देश की पूर्त्ति करनेवाले कई पत्र निकलते हैं। यद्यपि सर्वसाधारण लोग इन पत्रों को बहुत पसन्द करते हैं, तथापि राजकर्मचारी और विदेशी लोगों की कोप-दृष्टि इन पर अकसर पड़ा करती है। तिस पर भी इस प्रकार के पत्र दिन-दिन उन्नति करते जाते हैं।

अख़बारवाले अपनी स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए बड़ा आन्दोलन कर रहे हैं। इसके सिवा वे लोग डाक और तार का महसुल भी कम कराना चाहते हैं। और सरकारी कार्रवाइयों को प्रकाशित करने तथा बिना

विचार के जेल में ठूँस न दिये जाने का अधिकार भी चाहते हैं। परन्तु गवर्नमेंट उनकी इन प्रार्थनाओं पर ध्यान नहीं देती और उनको अपने पञ्जे में दवाये रखना चाहती है। बड़ी लज्जा की बात है कि पूर्वोक्त अधिकारों से केवल चीनी-पत्र ही वञ्चित रक्खे जाते हैं, विदेशी लोगों के पत्र स्वच्छन्दतापूर्वक उनका उपभोग करते हैं। चीनी गवर्नमेंट ने अख़बारों के लिए एक नया क़ानून बनाया है। उसकी रू से पत्रों के प्रकाशक, सम्पादक और मुद्रक वही हो सकते हैं जिनकी अवस्था बीस वर्ष से अधिक हो, होश-हवास दुरुस्त हों और सज़ायाफ़्ता न हों। अङ्कशास्त्र, चित्रकारी और शिक्षा-सम्बन्धी पत्रों को छोड़कर प्रत्येक पत्र के लिए उसके सञ्चालकों को सवा दो सौ रुपये की ज़मानत देनी पड़ती है। प्रत्येक अङ्क की एक कापी स्थानिक मैजिस्ट्रेट के पास और दूसरी पेकिन के किसी उच्च राज-कर्म्मचारी के पास भेजी जाती है।

जो पत्र सरकारी गुप्त भेदों को प्रकाशित करते हैं उन्हें बड़ी कड़ी सज़ा दी जाती है। राजविरुद्ध, शान्ति-भङ्गकारी अथवा रस्म-रिवाज के विरुद्ध लेख लिखनेवालों को छः महीने से लेकर दो वर्ष तक का जेल दिया जाता है। राजनैतिक दाँव-पेंच की बातें प्रकाशित करनेवाले पत्र कभी-कभी कुछ दिन के लिए बन्द भी कर दिये जाते हैं।

पत्र-सम्बन्धी क़ानून पर बड़ी सख़्ती से अमल किया जाता है। कुछ दिन हुए, टांकाई सिंग नामक एक विख्यात अख़बारवाले ने किसी राज-विद्रोही पत्र से एक लेख अपने पत्र में उद्धृत किया। फिर क्या था, अधिकारि-गण क्रोध से अन्धे हो गये। उन लोगों ने झट सिंग महाशय को गिरफ्तार किया और बिना विचार के जेल में ठूँस दिया। इसी तरह पिछले साल एक अख़बारवाले के इतने बेंत लगाये गये कि वह मर ही गया।

कुछ समय से चीनी गवर्नमेंट अपने पत्र अलग निकालने और विदेशी पत्रों पर प्रभाव जमाने की चेष्टा कर रही है। यह बात वह इसलिए करती है जिसमें अन्य जातियों से झगड़ा होने पर उसका पक्ष प्रबल रहे। पर उसकी यह चेष्टा व्यर्थ और अनुचित है। इस तरह उसके उद्देश की सिद्धि नहीं हो सकती। बेहतर है वह चीनी अख़बारों को काफ़ी स्वाधीनता प्रदान करे। क्योंकि जब तक चीनी अख़बार स्वतन्त्र और प्रबल न होंगे तब तक चीन की पूरी उन्नति न होगी।

यद्यपि चीनी अख़बार अभी बाल्यावस्था ही में हैं तथापि उन्होंने थोड़े ही दिनों में बहुत कुछ उन्नति कर ली है और उनका बल बराबर बढ़ता जाता है। इससे विदेशियों के हृदय में वे काँटे की तरह चुभने लगे हैं। जो हो, एक उठती हुई जाति के प्रबल-वेगवाही आकांक्षा-स्रोत को कोई रोक नहीं सकता।

[अप्रेल १९०९

१८—विलायत का "टाइम्स" नामक प्रसिद्ध समाचार-पत्र

आज हम, इस लेख में, विलायत के सब से अधिक प्रभुत्वशाली और विख्यात पत्र टाइम्स के विषय में कुछ लिखने का साहस कर रहे हैं। जिस सामग्री के आधार पर हम यह लेख लिखने जा रहे हैं वह पुरानी है। अतएव, सम्भव है, इसकी कुछ बातें आज वैसे ही न हों जैसी कि इसमें लिखी गई हैं। तथापि, आशा है, फिर भी पाठकों का कुछ न कुछ मनोरञ्जन और ज्ञानवर्द्धन इससे अवश्य ही होगा।

इस युग में समाचार-पत्र संसार की एक बड़ी प्रबल शक्ति हैं। समाचार-पत्रों का वैभव और महत्त्व पाश्चात्य देशों ही में देखने को मिलता है; भारत में तो अभी उनका बाल्यकाल ही है। वहाँ एक-एक पत्र के तीस-तीस चालीस-चालीस हज़ार ग्राहक हो जाना तो एक सामान्य सी बात है। वहाँ अनेक ऐसे पत्र हैं जिनकी ग्राहक-संख्या लाखों तक पहुँची है। भारतीय सम्पादकों और लेखकों की तरह पाश्चात्य देशों के सम्पादकों और लेखकों से लक्ष्मीजी की शत्रुता नहीं। वहाँ ऐसे मनुष्यों की संख्या बहुत बड़ी है जो केवल लेख लिखकर अथवा समाचारदाता बनकर अच्छी तरह अपनी जीविका उपार्जन कर सकते हैं। सेंट निहालसिंह के लेख पाठकों ने पढ़े होंगे। आप भारत-वासी हैं। पहले आप अमेरिका में थे। अब कुछ समय से आप विलायत

की राजधानी लन्दन में विराजमान हैं। आप नामी लेखक हैं। समाचार-पत्रों और सामयिक पुस्तकों में लेख लिखकर ही आपने ख्याति पाई है। आपके लेख भारत ही के नहीं, योरप और अमेरिका के भी समाचार-पत्रों में निकला करते हैं। लेख लिखना ही आपका व्यवसाय है। उससे आपको आमदनी भी बहुत काफ़ी होती होगी। जब एक विदेशी मनुष्य विलायत में इस व्यवसाय से जीविकोपार्जन कर सकता है तब वहीं के रहनेवाले सुयोग्य लेखकों की आमदनी का तो कहना ही क्या है। विलायत के प्रायः सभी निवासी समाचार-पत्र पढ़ने का शौक़ रखते हैं। वहाँ किसी समाचार-पत्र की एक कापी से दस-बीस आदमियों का काम नहीं निकलता। जूतों में टाँके लगानेवाला मोची भी, फ़ुरसत के वक़्, ताज़ा दैनिक परचा ख़रीदता और पढ़ता है। इन्हीं कारणों से योरप और अमेरिका के छोटे-छोटे देशों और प्रदेशों तक में समाचार-पत्रों की संख्या सैकड़ों-हज़ारों तक पहुँचती है। योरप के एक बहुत ही छोटे से देश, स्विज़रलैंड ही, में छः सौ से अधिक समाचार-पत्र हैं। इस समय ग्रेट-ब्रिटन, अर्थात् अँगरेज़ों की विलायत, में तीन हज़ार से भी अधिक समाचार-पत्र निकल रहे हैं। वहाँ के पत्रों में "टाइम्स" सबसे अधिक प्रभावशाली समझा जाता है। उसीका कुछ हाल नीचे दिया जाता है।

१७८५ ईसवी की पहली जनवरी को इस पत्र का जन्म हुआ। इसके जन्मदाता का नाम था जान वाल्टर। पहले इस पत्र का नाम था—दि लन्दन डेली यूनीवरसल रजिस्टर (The London Daily Universal Register) उत्पत्ति के तीन वर्ष बाद इसका नाम "टाइम्स" पड़ा। टाइम्स का सञ्चालक जान वाल्टर एक स्वतंत्र प्रकृति का मनुष्य था। वह अपने पत्र का सम्पादन भी बड़ी स्वतंत्रता और निर्भीकता से करता था। वह कुछ तत्कालीन राजपुरुषों के दुराचार न देख सका। अतएव वह उनके कारनामों को अपने पत्र में प्रकाशित करने लगा। फल यह

हुआ कि उसे दो वर्ष के भीतर ही तीन दफे जुर्माना देना पड़ा। यही नहीं, उसे जेल की भी हवा खानी पड़ी। १८०३ ईसवी में उसने टाइम्स का प्रबन्ध अपने द्वितीय पुत्र जान वाल्टर के हाथों में सौंप दिया। पुत्र ने अपने पत्र की विशेष उन्नति की। वह अपने पिता से भी अधिक स्वतन्त्रता-प्रेमी निकला। उसने तत्कालीन मंत्रि-मण्डल के कामों की बड़ी ही तीव्र आलोचना की। इस कारण टाइम्स में जो गवर्नमेंट के विज्ञापन छपते थे उनका दिया जाना बन्द हो गया। कहा तो यह भी जाता है कि शासक-दल ने टाइम्स के साथ यहाँ तक सलूक किया कि विदेशों से आनेवाले उसके समाचार बन्दरों ही पर रोक लिये जाने लगे। परन्तु द्वितीय जान वाल्टर इन बातों से ज़रा भी विचलित न हुआ। उसने विदेशी समाचार मँगाने का दूसरा, किन्तु पहले से भी अच्छा, प्रबन्ध कर लिया। १८१४ ईसवी में उसने छापने की कलों में भी ऐसा सुधार कर लिया कि एक घण्टे में टाइम्स की ग्यारह सौ कापियाँ निकलने लगीं। उस समय तक इतना तेज़ चलनेवाला और इतना अधिक काम देनेवाला और कोई प्रेस कहीं अन्यत्र न था। टाइम्स के सम्पादकीय विभाग में भी उन्नति की गई। पत्र का आकार, लेखों की संख्या और उनकी उत्तमता बढ़ गई। यह सब हो जाने पर ग्राहक-संख्या में भी अच्छी वृद्धि हुई। १८१५ में कोई पाँच ही हज़ार ग्राहक थे। १८३४ में वे दस हज़ार हो गये; १८४० में १८,५००; १८४४ में २३,०००; १८५१ में ४०,००० और १८५४ में ५१,०००।

१८५० ईसवी के बाद टाइम्स की उन्नति बड़े वेग से होने लगी। उस समय उसके मालिकों को यह चिन्ता हुई कि छापने की कलों में और ऐसे सुधार होने चाहिए जिससे और भी कम समय में अधिक कापियाँ छप सकें। इस पर, १८५६ ईसवी में, टाइम्स के कार्यालय के एक कर्म्मचारी ने एक ऐसी युक्ति निकाली जिससे दोनों तरफ एक ही साथ काग़ज़

छपने लगा। १८६९ में एक और भी सुधार हुआ। टाइम्स के मालिकों ने "वाल्टर" प्रेस का आविष्कार किया। तब टाइम्स की बारह हज़ार कापियाँ एक घण्टे में छपने लगीं। १८९५ में हो-नामक एक साहब के बनाये हुए प्रेस काम में आने लगे। उन प्रेसों ने छापेख़ाने के व्यवसाय में अश्रुतपूर्व हलचल पैदा कर दी। उन्होंने संसार को चकित सा कर दिया। उनकी बदौलत एक ही घण्टे में छत्तीस हज़ार कापियाँ निकलने लगीं। इतना ही नहीं, प्रेस की मैशीन में एक कल ऐसी भी लगा दी गई जो छपे हुए कागज़ों को साथ ही साथ पुस्तक का रूप देकर उनकी सिलाई भी कर देने लगी।

टाइप कम्पोज़ करने में बहुत समय लगता था। १८७९ ईसवी में यह कठिनता या त्रुटि भी दूर कर दी गई। टाइम्स के कार्य्यालय के जर्मनी-निवासी एक कारीगर ने एक ऐसी कल ईजाद कर दी जो एक घंटे में टाइम्स पत्र की २९८ सतरें या १६, ६८८ भिन्न-भिन्न प्रकार के टाइप कम्पोज़ करने लगी। इस कल को टाइम्स के मालिकों ने उस कारीगर से मोल ले लिया।

पारलियामेंट की कामन्स सभा की वक्तृताओं को सर्व-साधारण के पास तक सबसे पहले पहुँचाने का भी प्रबन्ध किया गया। १८८५ ईसवी में पारलियामेंट के भवन से लेकर टाइम्स के कार्य्यालय तक टेलीफोन लगा गया। उधर पारलियामेंट में वक्तृतायें होती थीं, इधर टाइम्स के कार्य्यालय में कम्पोज़ीटर लोग मैशीन द्वारा उन्हें कम्पोज़ करते जाते थे। इसके कुछ काल बाद पारलियामेंट का काम आधी रात से आरम्भ होने लगा। तब से टेलीफ़ोन की ज़रूरत न रही। संवाददाताओं ही के द्वारा प्राप्त हुई वक्तृताओं की नक़ल छाप दी जाने लगी।

टाइप कम्पोज़ करनेवाली मैशीनों के कारण समय की बड़ी बचत हुई। परन्तु छापने के बाद टाइपों को निकालने और उन्हें उनके भिन्न-

भिन्न स्थानों में रखने में बहुत समय व्यय होता था। पूर्वोक्त जर्मन कारीगर ने एक कल और तैयार की थी जो टाइपों को निकाल-निकालकर उनके निश्चित स्थानों में पहुँचा देती थी। परन्तु इस कल से आशाजनक सफलता न हुई। इसी बीच में विक्स नाम के एक साहब ने टाइप ढालने की एक कल ऐसी तैयार की थी जो टाइपों को बहुत शीघ्र और साथ ही पुराने टाइपों से बहुत उम्दा और थोड़े ही खर्च में ढाल देती थी। १८९१ ईसवी में यह लाइनो टाइप (Lino-type) मैशीन तैयार हुई। टाइम्स के मालिकों ने विक्स साहब को अपने लिए टाइप ढालने का ठेका दे दिया। आज-कल टाइम्स के कार्य्यालय में जो टाइप एक वार काम में आ जाता है उससे फिर काम नहीं लिया जाता। वह गला डाला जाता है। मैशीन-द्वारा टाइप आप ही आप ढलते जाते और मैटर कम्पोज़ होता जाता है।

१९०४-०५ में रूस-जापान-युद्ध हुआ था। उस समय युद्ध-समाचार पाने के लिए टाइम्स के मालिकों ने अपने कार्य्यालय से युद्ध-स्थल के एक जहाज़ तक बेतार का तार लगा दिया था। इस अभूतपूर्व प्रबन्ध-कुशलता की जितनी तारीफ़ की जाय कम है।

टाइम्स में विज्ञापनों की भरसार रहती है। ज्यों-ज्यों उसकी ख्याति दढ़ती गई त्यों-त्यों विज्ञापनों की संख्या में भी वृद्धि होती गई। विज्ञापनों से टाइम्स को आमदनी भी बहुत होती है। टाइम्स में बड़े आकार के बीस-पच्चीस पृष्ठ रहते हैं। यह पृष्ठ-संख्या कभी-कभी अधिक भी हो जाती है। साम्राज्य-दिन (Empire-Day) पर टाइम्स के अङ्क का आकार बहुत बढ़ जाता है। उसका वह अङ्क कभी-कभी ७२ पृष्ठों का निकलता है।

समाचारों की सत्यता, साहित्य-सम्बन्धिनी चर्चा और गवेषणा-पूर्ण लेखों की महत्ता के लिए टाइम्स बहुत प्रसिद्ध है। उसके लेखक योग्य—

बहुत योग्य—और विद्वान् होते हैं। उनमें एक ख़ास बात पाई जाती है। वे लोग प्रायः अपना नाम गुप्त रखते हैं। अथवा वे किसी काल्पनिक नाम से लेख देते हैं। उसके संवाददाताओं की संख्या भी बहुत अधिक है। उनकी संख्या सैकड़ों है। विदेश के बड़े-बड़े नगरों में सर्वत्र उसके संवाददाता रहते हैं। टाइम्स के प्रचाराधिक्य और उसकी उन्नति का एक कारण यह भी है कि कोई और किसी श्रेणी का मनुष्य अपनी शिकायत लिख भेजे, तथ्यांश होने पर, टाइम्स उसे बहुत करके बिना छापे नहीं रहता। समाचार मँगाने का प्रबन्ध जितना अच्छा टाइम्स का है उतना और किसी भी पत्र का नहीं।

टाइम्स के समाचारों की सत्यता के विषय में एक घटना उल्लेख योग्य है। १८४० ईसवी में, टाइम्स के एक संवाददाता ने पेरिस से यह समाचार भेजा कि जालसाज़ों के एक बड़े भारी दल ने जाली हुण्डियाँ बनाई हैं और वे शीघ्र ही एक ही दिन योरप के बड़े-बड़े बैंकों में पेश की जायँगी। टाइम्स ने सारी ज़िम्मेदारी अपने ऊपर लेकर इस समाचार को, कुछ जालसाज़ों के नामसहित, प्रकाशित कर दिया। समाचार सत्य निकला। फल यह हुआ कि कितने ही बैङ्क ठगे जाने से बच गये। एक आदमी ने, जो जालसाजों के दल का बताया गया था, टाइम्स के ऊपर मानहानि की नालिश ठोंक दी। अभियोग बहुत दिनों तक चला। अन्त में टाइम्स ही की जीत हुई। परन्तु पचहत्तर हज़ार रुपया मुक़द्दमेबाज़ी में स्वाहा हो गया। इस पर ग्राहकों ने टाइम्स की सहायता के लिए चन्दा किया; परन्तु उसके स्वाभिमानी मालिकों ने चन्दे की रक़म लेना नामन्ज़ूर कर दिया और जो रुपया चन्दे से एकत्र हुआ था उसे उन्होंने एक स्कूल को दान कर दिया।

सर्व-साधारण की सेवा करते हुए टाइम्स को और भी कई बार आर्थिक हानि उठानी पड़ी है। उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के अन्त में

इँगलेंड में बहुत सी ऐसी रेलवे कम्पनियाँ खड़ी हुईं जो थोड़े ही दिन चलकर टूट गईं। इन कम्पनियों के नाम पर धूर्त लोग सर्व-साधारण को ख़ूब ठगते थे। १८४५ ईसवी में टाइम्स ने इन धूर्तों के विरुद्ध घोर आन्दोलन किया। फल यह हुआ कि टाइम्स को उन विज्ञापनों के न मिलने से बड़ी आर्थिक हानि उठानी पड़ी जो उन कम्पनियों की ओर से उसमें छपते थे। परन्तु उसकी तो हानि हुई, जन-साधारण को बहुत लाभ पहुँचा। लोग ठगे जाने से बच गये।

यद्यपि विदेश में टाइम्स के स्वतन्त्र संवाददाताओं की कमी नहीं, तथापि रूटर की संवाददायिनी एजेंसी से भी उसका गहरा सम्बन्ध है। इस एजेंसी के जन्मदाता का नाम जूलियस रूटर था। १८४९ ईसवी में उसने इस एजेंसी की स्थापना पेरिस में की थी। पेरिस और बर्लिन के बीच में तार लगा था। इसलिए इन दोनों स्थानों के समाचार तार-द्वारा आते थे। फ़्रांस और जर्मनी के अन्य स्थानों और बड़े बड़े नगरों से समाचार मँगाने का काम कबूतरों से लिया जाता था। ज्यों-ज्यों तार का प्रचार बढ़ता गया त्यों-त्यों एजेंसी भी अपना काम बढ़ाती गई। उससे टाइम्स का सम्बन्ध १८५० ईसवी में हुआ था।

टाइम्स के दैनिक संस्करण के अतिरिक्त और भी कई संस्करण निकलते हैं। सप्ताह में तीन बार निकलनेवाले संस्करण का नाम "मेल" (Mail) है। १८७७ ईसवी से एक साप्ताहिक संस्करण भी निकलता है। १८८४ ईसवी में क़ानूनी बातों की आलोचना के लिए "ला-रिपोर्ट्स" (Law Reports) का जन्म हुआ। "कमर्शल केसेज़" (Commercial Cases) में वाणिज्य-व्यवसाय की चर्चा रहती है। १८९७ में साहित्य-सम्बन्धी विषयों की विवेचना के लिए टाइम्स के "लिटरेचर" (Literature) अर्थात् साहित्य नाम के एक साप्ताहिक संस्करण का जन्म हुआ था। पर वह पत्र शायद औरों को दे दिया गया है। उसके

स्थान में दैनिक टाइम्स के बृहस्पतिवार के अङ्क के साथ एक साहित्य-सम्बन्धी क्रोड़पत्र निकलता है। इस क्रोड़पत्र से अँगरेज़ी-साहित्य का बड़ा उपकार हुआ है। लोगों ने इसे बहुत पसन्द किया है। १९०४ से दैनिक टाइम्स में व्यापार-सम्बन्धी (Financial and Commercial Supplement), १९०५ से भवन-निर्माण-सम्बन्धी (Engineering Supplement) और १९१० से स्त्रियों के लिए (Women's Supplement) नामक क्रोड़पत्र भी सप्ताह में एक एक वार निकलते हैं।

टाइम्स का पुस्तकालय बहुत विशाल है। उसके कार्यालय से बहुत सी अप्राप्य और अमूल्य पुस्तकें भी समय समय पर प्रकाशित होती रहती हैं। अँगरेज़ी विश्वकोश (Encyclopædia Britanica) के पिछले संस्करण वहीं से निकले हैं। मूल्य भी उसका बहुत कम रक्खा गया है। जर्मनी के प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ बिस्मार्क का गुप्त जीवनचरित, दक्षिणी अफ़्रीका के युद्ध-सम्बन्धी ग्रन्थ और रूस-जापान के युद्ध का इतिहास आदि भी टाइम्स ही के कार्य्यालय से प्रकाशित हुए हैं। और भी अनेक अनमोल ग्रन्थ उसकी बदौलत सर्व-साधारण को पढ़ने को मिले हैं। ग्रन्थों का प्रकाशन-कार्य्य उसने अब तक बराबर जारी रक्खा है।

[अगस्त १९२६

१९—खुदाबख़्श-लाइब्रेरी

बाँकीपुर में एक नामी पुस्तकालय है। उसका नाम है ख़ुदाबख़्श-लाइब्रेरी। १९०३ ईसवी तक उसे बहुत कम लोग जानते थे। परन्तु पूर्वोक्त वर्ष लार्ड कर्ज़न ने उसका मुलाहज़ा किया। तब से गवर्नमेंट के अनेक बड़े-बड़े अफ़सर उसे देखने के लिए आने लगे। फल यह हुआ कि इस पुस्तकालय की प्रसिद्धि हो गई। बात यह है कि हम लोग अपनी आँखों देखना नहीं जानते। जब और कोई हमें कोई चीज़ दिखा देता है और उसके गुण बता देता है तब हम भी उसकी क़दर करने लगते हैं। लार्ड कर्ज़न की बदौलत ही हम लोगों ने इस पुस्तकालय को पहचाना। अब तो इसका नाम देश-देशान्तरों तक में हो गया है। इस पुस्तकालय में कुछ पुस्तकें—हस्त-लिखित—ऐसी भी हैं जो अन्यत्र कहीं नहीं। लन्दन, बर्लिन, पेरिस, न्यूयार्क और सेन्ट पिटर्सबर्ग में भी उनकी कापियाँ नहीं।

गत एप्रिल में बाँकीपुर के "एक्सप्रेस" नामक अँगरेज़ी भाषा के समाचार-पत्र ने अपना एक विशेष अङ्क निकाला। उसमें इस पुस्तकालय पर एक सचित्र लेख है। उसीसे लेकर, कुछ बातें, इसकी पुस्तकों के सम्बन्ध की, नीचे लिखी जाती हैं।

इसमें जो पुस्तकें हैं वे ख़ुदाबख़्श नामक एक पुस्तक-प्रेमी विद्वान् की एकत्र की हुई हैं। उनको पुस्तकें एकत्र करने का व्यसन सा था। मरते दम तक उन्होंने दूर-दूर से पुस्तकें मँगाकर और हज़ारों रुपया ख़र्च करके

उन्हें इसमें रक्खा। पुस्तकालय के लिए उन्होंने एक अच्छी इमारत भी बनवा दी। उसमें विशेष करके अरबी-फ़ारसी ही की पुस्तकें अधिक हैं। ये पुस्तकें बड़े ही महत्त्व की हैं; कोई-कोई तो अनमोल और दुष्प्राप्य भी कही जा सकती हैं। उनमें से कितनी ही ऐसी हैं जो देहली के बादशाहों की लिखाई हुई हैं। अरब, फ़ारिस और तुर्किस्तान तक के नामी नामी लेखकों की वे लिखी हुई हैं। लाखों रुपये उनके लिखाने में खर्च हुए हैं।

पुस्तकें अनेक विषयों की हैं। इतिहास, दर्शनशास्त्र, धर्म्मशास्त्र, साहित्य, वेदान्त, आयुर्वेद आदि कोई विषय ऐसा नहीं जिस पर अनेक-अनेक पुस्तकें न हों। पर हैं वे सब मुसलमानों ही की रची और लिखी हुई। जिनका सम्बन्ध धर्म्म से है वे सब की सब प्रायः मुसलमानी ही धर्म्म की हैं। डाक्टर डेनिसन रास ने इस पुस्तकालय की पुस्तकों की एक बहुत बड़ी सूची प्रकाशित की है। उससे इस पुस्तकालय के अनमोल रत्नों का ज्ञान सर्व-साधारण को होने में बहुत सुभीता हो गया है। इस पुस्तकालय में हज़ारों अलभ्य ग्रन्थ-रत्न ही नहीं, किन्तु कितने ही पुराने ग्रन्थकारों के हाथ से लिखी हुई, उनके ग्रन्थों की असल कापियाँ, भी हैं। उनमें उन्हींके हाथ से किये गये संशोधन, परिशोधन, टिप्पणियाँ और काट-छाँट, जैसे के तैसे, देखने को मिलते हैं। अरब में जब से विद्या-दीपक की ज्योति जली तब से जितने उत्तमोत्तम ग्रन्थ प्रकाशित हुए उनमें से अधिकांश की कापियाँ इस पुस्तकागार में संगृहीत हैं। इस पुस्तकागार को देख लिया मानों मुसलमानों के विद्या-विकास का मूर्त्तिमान रूप देख लिया।

इस में शाहनामा की एक कापी है। उसे काबुल और काश्मीर के गवर्नर, अली मरदान ख़ाँ, ने शाहेजहाँ बादशाह को नज़र किया था। उसकी लिपि बड़ी ही सुन्दर है। हाशिये पर सुनहरा काम है। ९४२

हिजरी की लिखी हुई है। ६१२ पृष्ठ पर अली मरदान ही के हाथ का एक लेख है, जिसमें लिखा है कि यह पुस्तक मैंने बादशाह को भेंट में दी। एक कापी शाहिन्शाहनामे की है। उसमें रूम के सुलतान मुहम्मद तीसरे का चरित, पद्य में, है। इस पुस्तक की दूसरी कापी आज तक और कहीं नहीं मिली। यह कापी शायद ख़ुद सुल्तान के लिए कुस्तुन-तुनिया ही में लिखी गई थी। किसी प्रकार यह देहली पहुँची और शाही पुस्तकालय में रखी गई। इस पर तैमूरी घराने के कितने ही बाद-शाहों और अमीरों की मुहरें और दस्तख़त हैं। शाहेजहाँ की बड़ी लड़की, जहानआरा बेगम, की भी मुहर इस पुस्तक पर है। यह लड़की विदुषी थी। इसकी मुहर बहुत कम देखने में आई है। हाफ़िज़ के दीवान की कई कापियाँ, इस पुस्तकालय में, हैं। उनमें से एक कापी बड़े महत्व की है। उस पर हुमायूँ और जहाँगीर के हाथ से लिखे गये कितने ही टिप्पण, हाशिये पर, हैं। तुलसीदास की रामायण की तरह दीवाने-हाफ़िज़ से भी शकुन या प्रश्न पूछे जाते हैं। यथाविधि पुस्तक खोलकर उस शेर का मतलब देखा जाता है जो खोलने पर निकलता है। उसीके अनुसार प्रश्न करनेवाला अपने प्रश्न का फलाफल जान लेता है। इस तरह किये गये कितने ही प्रश्नों और उनके फलाफल का उल्लेख, पूर्वोक्त दोनों बादशाहों ने, इस कापी के हाशिये पर, अपने हाथ से, किया है।

क़ुरान की तो न मालूम कितनी कापियाँ इस पुस्तकालय में हैं। वे इतनी सुन्दर हैं और उनकी लिपि इतनी मनोहर है कि देखकर चित्त प्रसन्न हो जाता है।

ख़ान-ख़ाना अब्दुर्रहीम ने यूसुफ़ ज़ुलेख़ा की एक कापी लिखाई थी। उसके लिखाने में उसने एक हज़ार मुहरें ख़र्च की थीं। यह कापी उसने जहाँगीर बादशाह को नज़र की थी। यही कापी बाँकीपुर के इस पुस्तकागार की शोभा बढ़ा रही है। यह ९३० हिजरी की लिखी हुई है। हुमायूँ के

भाई मिर्ज़ा कामरान के दीवान की भी एक कापी दर्शनीय है। यह एक नामी लेखक की लिखी हुई है। जहाँगीर और शाहेजहाँ के दस्तख़तों के सिवा और भी कितने ही बड़े-बड़े अमीरों के दस्तख़त इस कापी पर हैं।

इस पुस्तकालय में कुछ पुस्तकें बहुत पुरानी हैं। ६०० हिजरी तक की पुस्तकें इसमें हैं। जहरवी नामक एक अरब-निवासी हकीम की पुस्तक, ५८४ हिजरी की लिखी हुई, यहाँ है। यह शल्य-चिकित्सा, अर्थात् सर्जरी (Surgery) पर है। इस पुस्तक में चीर-फाड़ के शस्त्रों के चित्र भी हैं, जिनमें से कितने ही शस्त्र आजकल के डाक्टरी शस्त्रों से मिलते-जुलते हैं। कुछ पुरानी पुस्तकें ऐसी भी हैं जिनमें ओषधियों और पशुओं के रङ्गीन चित्र भी हैं।

मुहम्मद साहब के जीवनचरित और क़ुरान शरीफ़ के इतिहास से सम्बन्ध रखनेवाली भी कितनी ही पुस्तकें, इस संग्रहालय में, हैं। इतिहास और नामी-नामी पुरुषों के जीवनचरित तो न मालूम कितने होंगे।

जहां तक हम जानते हैं, भारत में, एक भी विद्याव्यसनी हिन्दू ने हिन्दुओं की बनाई हुई प्राचीन पुस्तकों का इतना बड़ा संग्रह अकेले ही नहीं किया। संग्रह करके सर्वसाधारण के लाभ के लिए उन्हें पुस्तकालय में रखना तो दूर की बात है।

[अगस्त १९१४

२०—मौलिकता का मूल्य

कुछ समय से, हिन्दी-साहित्य में, मौलिक रचना का महत्त्व ख़ूब गाया जा रहा है। ऐसी रचनाओं की कमी ही नहीं, प्रायः अभाव ही सा बताया जा रहा है और ज़ोर दिया जा रहा है कि सामर्थ्य रखनेवाले लेखकों को मौलिक ही पुस्तकों की रचना करनी चाहिए। इस पर प्रश्न हो सकता है कि "मौलिक" विशेषण का अर्थ क्या है? कोशकार कहते हैं कि जिस वस्तु का मूल अर्थात् जड़ उसीमें हो उसीको मौलिक कहते हैं। मतलब यह कि जिस पुस्तक में और कहीं से कुछ भी न लिया गया हो वही मौलिक है।

यह तो "मौलिक" शब्द का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ हुआ। इसी अर्थ को शायद ध्यान में रखकर हिन्दी-साहित्य से सम्बन्ध रखनेवाली प्रतिष्ठित संस्थायें मौलिक पुस्तकों के कर्ताओं को बड़े-बड़े पारितोषिक देने की घोषणा करती हैं। परन्तु जब मौलिक मानी गई पुस्तकें जाँच करनेवाले साहित्यशास्त्रियों के सामने जाती हैं तब और ही गुल खिलता है। तब तो वे लोग यदा-कदा औरों की लिखी हुई मूल पुस्तकों के भाष्यों और टीकाओं को भी मौलिक समझकर भाष्यकारों और टीका-लेखकों को भी उपहार का पात्र निश्चित कर देते हैं। इससे या तो यह सूचित होता है कि कोशकारों का किया हुआ, मौलिक शब्द का अर्थ परीक्षक पण्डितों को मान्य नहीं या पुस्तकें भेजनेवाली और उपहार देनेवाली संस्था के मौलिक-रचना-सम्बन्धी नियमों के परिपालन की उन्हें परवा नहीं। इससे

यह भी सूचित होता है कि औरों के कथन को अपनी भाषा में अच्छी तरह समझा देनेवाले या उसकी व्याख्या करनेवाले लेखक भी मौलिक लेखक ही के सदृश महत्त्व रखते हैं।

संसार में ज्ञान की उत्तरोत्तर वृद्धि हो रही है। मनुष्यों पर अपने पूर्ववर्ती पुरुषों के ज्ञानोपदेश का असर पड़े बिना नहीं रहता। यही हाल लेखकों का भी है। किसी विषय पर कुछ लिखनेवाले लेखक के हृदय में उस विषय की दृष्टपूर्व पुस्तकों के भाव ज़रूर ही जागृत हो उठते हैं। जिसने कालिदास या भारवि या शेक्सपियर आदि महाकवियों के काव्यों का परिशीलन किया हैं वह यदि उन्हीं काव्यों में वर्णित विषयों पर कविता लिखने बैठेगा तो यह सम्भव नहीं कि उसकी रचना में उनके भावों की कुछ न कुछ छाया न आ जाय। इस दशा में सर्वतोभाव से मौलिक रचना करना परम दुस्तर है। ऐसे लेखक दुनिया में बहुत ही थोड़े हुए हैं जिन्होंने अपने पूर्ववर्त्ती ग्रन्थकारों के सञ्चित ज्ञान से, अपनी रचनाओं में, कुछ भी लाभ न उठाया हो। सर जगदीशचन्द्र वसु ने कितने ही नये-नये और अद्भुत-अद्भुत आविष्कार किये हैं और उनका विवेचन बड़े-बड़े ग्रन्थों में किया है। आप उनकी पुस्तकों को पढ़िए। आप देखेंगे कि उन्होंने अपने पूर्ववर्ती विज्ञान-वेत्ताओं के द्वारा सञ्चित ज्ञान से कितना लाभ उठाया है। यह कोई नई बात नहीं। यह बात लेखक या विज्ञानवेत्ता की न्यूनता या क्षुद्रता की भी द्योतक नहीं। दूसरों के द्वारा प्राप्त ज्ञान से लाभ उठाने की परिपाटी तो परम्परा ही से चली आ रही है। और, पूर्वजों के इस ऋण से बचने का कोई उपाय भी तो नहीं। सभी लेखक—सभी ग्रन्थकार—अपने पूर्ववर्त्ती पण्डितों के ज्ञान से अपनी ज्ञान-वृद्धि करते चले आ रहे हैं। यह क्रम आज का नहीं, बहुत पुराना है और सतत जारी रहेगा। यदि ऐसा न होता तो मनुष्य-समुदाय आज ज्ञानार्जन की जिस सोपान-पंक्ति पर पहुँचा है उस पर कदापि न पहुँचता।

अतएव विवेचक जनों को देखना चाहिए कि जो पुस्तक उनके हाथ में है या जिसकी वे समालोचना करने जा रहे हैं उसमें ज्ञानवर्धन की कुछ सामग्री है या नहीं। अर्थात् जिन लोगों के लिए वह लिखी गई है उनके लिए वह सामग्री उससे अच्छे रूप में अन्यत्र सुलभ है या नहीं। यदि है और हाथ में ली हुई पुस्तक में कुछ भी, किसी तरह की, विशेषता नहीं, तो उसे महत्त्वहीन समझना चाहिए। यदि यह बात नहीं और यदि उस पुस्तक से उसके विषय के किसी भी अंश की कमी दूर हो सकती है तो वह अवश्य ही अवलोकनीय है।

[दिसम्बर १९२६

२१—क़वायद-परेड की पुस्तकों में रोमन-लिपि

उस साल कानपुर में जो साहित्य-सम्मेलन हुआ था उसकी याद कीजिये। उस सम्मेलन की स्वागत-समिति के सभापति का भाषण, सम्मेलन में, पुस्तकाकार बाँटा गया था। उसकी कापियाँ सम्मेलन-कार्य्यालय, इलाहाबाद, से अब भी मिल सकती हैं। उसमें हिन्दी-हितैषियों का ध्यान रोमन-लिपि के आक्रमण की ओर आकृष्ट किया गया था और लिखा गया था कि उस लिपि से देवनागरी लिपि को भय हो रहा है। लेखक का वह सन्देह सच निकला। यों तो और भी कई लोगों ने इस देश में रोमन-लिपि के प्रचार की कोशिश की है और उससे होनेवाले अनेक काल्पनिक लाभों का उल्लेख किया है; पर उनकी चेष्टायें फलीभूत नहीं हुईं। परन्तु अब तो स्वयं सरकार ने उसे अपनाने का सूत्रपात कर दिया है। इस सूत्रपात की ख़बर शायद अब तक हिन्दी के हितचिन्तकों,

हिन्दी की सभाओं और हिन्दी के समाचार-पत्रों के सम्पादकों को नहीं। होती तो इस विषय की कुछ न कुछ चर्चा वे लोग अवश्य ही करते। परन्तु इस विषय की कहीं भी की गई, कुछ भी चर्चा, इस नोट के लेखक की दृष्टि में नहीं आई।

सरकार का शासन और सरकार का ख़र्च प्रजा से प्राप्त हुए रुपये ही की बदौलत चलता है। इस दशा में उसके द्वारा प्रकाशित लेखों, पुस्तकों, क़ानूनों, विज्ञप्तियों और गैज़टों आदि का अनुवाद, देशी भाषाओं में, करने का अधिकार सर्व-साधारण को होना ही चाहिए। और यह अधिकार, अनेकांश में, उसे अब तक था भी। पर कुछ समय हुआ, सरकार ने एक मन्तव्य, अपने गैज़ट आव् इंडिया में, प्रकाशित करके इस अधिकार में बहुत कुछ कतर-ब्योंत कर दिया। अब कुछ ही काग़ज-पत्रों और पुस्तकों को छोड़कर और चीज़ों का अनुवाद देशी भाषाओं में किये जाने की मुमानियत हो गई है। सरकार अब तक जो फ़ौजी किताबें, क़वायद-परेड आदि से सम्बन्ध रखनेवाली, निकालती थी उनका अनुवाद करके कुछ लोग चार पैसे कमा खाते थे। उनके अनुवाद सुन्दर होते थे और ठीक-ठीक भी होते थे। जिन फ़ौजी सिपाहियों वग़ैरह के लिए ये अनुवाद किये जाते थे वे इन्हें बहुत पसन्द करते थे और ख़ुशी से ख़रीदते और पढ़ते थे। सरकारी दफ़्तरों से भी अँगरेजी क़वायद-परेड की पुस्तकों के अनुवाद हिन्दी, उर्दू और गुरमुखी आदि भाषाओं में निकलते थे। पर वे वैसे ही होते थे, और अब भी होते हैं, जैसे प्रचलित ऐक्टों (क़ानूनों) और अन्य सरकारी पुस्तकों के होते हैं। ऐसे अनुवादों की भाषा दूषित ही नहीं, दुरूह भी होती है। इसीसे लोग उनकी अपेक्षा अन्य अनुवादकों और प्रकाशकों के अनुवाद अधिक पसन्द करते थे। वे उनकी समझ में अच्छी तरह आ जाते थे। इससे सरकारी आज्ञाओं के पालन और क़वायद-परेड के नियमों की जानकारी आसानी

से हो जाने के कारण सरकारी काम में भी विशेष सुभीता होता था। परन्तु इन सुभीतों की ओर दृक्पात न करके सरकार ने अब गैर-सरकारी अनुवादों का किया जाना ही बहुत कुछ रोक दिया है। उसने ऐसा क्यों किया, इस पर अनुमान लड़ाना व्यर्थ है। सम्भव है, इस नई आज्ञा ही से उसने अपना और इस देश का लाभ सोचा हो। यह भी सम्भव है कि इस आज्ञा की तह में कोई राजनैतिक रहस्य हो। अस्तु।

बात यहीं तक नहीं रही। सुनते हैं, अब क़वायद-परेड की किताबों, और देशी पल्टनों के स्कूलों में पढ़ाई जानेवाली अन्य पुस्तकों, से देवनागरी, उर्दू और गुरमुखी आदि अक्षरों का भी "बायकाट" कर दिया गया है। शायद इस विषय में कोई मन्तव्य या आदेश भी फ़ौजी महकमे से निकल गया है। सो, यदि यह सच है तो अब हिन्दुओं, मुसल्मानों, सिक्खों, पहाड़ियों, गोरखों तथा अन्य सैनिकों को उनकी लिपि के दर्शन दुर्लभ हो जायँगे। और बहुत सम्भव है, वे दुर्लभ हो भी गये हों। यह सच है या नहीं और इस नई आज्ञा से सरकार ने क्या लाभ सोचा है, इसकी पूँछपाँछ लेजिस्लेटिव कौंसिल और कौंसिल आव् स्टेट के कोई मेम्बर साहब चाहें तो कर सकते हैं। परन्तु उन बेचारों को ऐसे छोटे-छोटे कामों के सम्बन्ध में सरखपी करने की क्या ज़रूरत ? और ज़रूरत हो भी तो उन्हें इसकी ख़बर भी कैसे मिले ! उनमें से शायद ही किसी भूले-भटके की दृष्टि इस नोट पर पड़े। फ़ौजी महकमे से प्रकाशित पुस्तकों और आज्ञा-पत्रों में क्या लिखा रहता है और कब क्या निकलता है, इसकी जानकारी प्राप्त करने की फ़ुरसत उन्हें कहाँ ? देश का दुर्भाग्य !

कौंसिल और असेम्बली के अनेक देश-भक्त मेम्बर फ़ौज में हिन्दुस्तानी अफ़सरों की वृद्धि और अधिकता कर देने के लिए बड़ी-बड़ी चेष्टायें कर रहे हैं। सरकार भी उन्हें दाद देने पर तुली हुई है। कुछ

सुभीते उसने कर भी दिये हैं। पर वह लम्बी दौड़ के लिए तैयार नहीं। वह धीरे-धीरे क़दम बढ़ाना चाहती है। इतना धीरे जितना कि नीचे दिये गये एक देहाती गणित-प्रश्न के लँगड़े की चाल से सूचित होता है—

लँगड़ा चला गङ्ग नहाने,
सौ दिन में अङ्गुल भर जाने।
अस्सी कोस गङ्ग का तीर,
कितने दिन में पहुँचे वीर ?

सो इधर तो सरकार चींटी की चाल से भी धीमी चाल से फ़ौजी अफ़सरों की संख्या में हिन्दुस्तानियों की वृद्धि करना चाहती है, उधर उनकी लिपि को वह गलहस्त दे रही है और शायद दे भी चुकी है। इसका क्या मतलब है, सो हम जैसे मन्द-बुद्धियों की समझ के बाहर की बात है। प्रजा के प्रतिनिधि और कौंसिलों के मेम्बर महोदय इसे समझ सकें तो समझने की चेष्टा करें। हमारा ख़याल तो यह है कि अपनी भाषा और अपनी लिपि के स्वीकार और ज्ञान से देश-प्रेम बढ़ता है और उसके अस्वीकार अथवा त्याग से वह घटता है। इस दशा में अपनी लिपि से सम्बन्ध छोड़ना या छुड़ा देना देश के कल्याण का विघातक है। क़वायद-परेड वग़ैरह की फ़ौजी पुस्तकों में भाषायें तो देशी ही रहेंगी, लिपि-मात्र रोमन हो जायगी। इस कारण सैनिकों का लगाव अपनी लिपि से छूट जायगा। जो लोग फ़ौज में भरती होकर ही कुछ लिखना पढ़ना सीखेंगे वे रोमन अक्षरों में छपी हुई क़वायद की किताबें तो पढ़ ही लेंगे; पर अपने धर्म्म-कर्म्म की रामायण आदि भी न पढ़ सकेंगे। इससे उनकी कितनी हानि होगी, इसकी नाप-तोल करने की ज़रूरत नहीं। वह सर्वथा अनुमान-गम्य है। रोमन अक्षरों में अनेक दोष हैं। उनमें इस देश की भाषायें अच्छी तरह लिखी भी नहीं जा सकतीं। उनके द्वारा यहाँ की बोल-चाल के कितने ही शब्दों के उच्चारण ठीक-ठीक

व्यक्त ही नहीं हो सकते। अतएव इस नई घटना से सरकार और सरकारी फ़ौज के अफ़सरों का चाहे जो लाभ हो, सैनिकों की सर्वथा ही हानि है। फ़ौजी अफ़सर इस देश की लिपियाँ बहुधा नहीं पढ़ सकते। रोमन लिपि में छपी हुई पुस्तकें वे अवश्य ही आसानी से पढ़ सकेंगे और इस बात का निश्चय कर सकेंगे कि किसी ने, किसी बहाने, कोई क़ाबिल-एतराज़ बात तो उनमें नहीं घुसेड़ दी। इसके सिवा सरकार की इस नई आज्ञा की तह में और भी कारण हो सकते हैं, पर उनका अनुमान करना, न करना, राजनीतिविशारदों ही पर छोड़ देना हम उचित समझते हैं।

[जनवरी १९२८

तरुण-भारत-ग्रन्थावली की निम्नलिखित उपयोगी पुस्तकें अवश्य मँगाकर पढ़िये

इतिहास

१—रोम का इतिहास ... ... ॥)
२—ग्रीस का इतिहास ... ... १=)
३—इटली की स्वाधीनता ... ... ॥)
४—फ्रांस की राज्य-क्रान्ति ... ... १)
५—मराठों का उत्कर्ष ... ... १॥)
६—दिल्ली—इन्द्रप्रस्थ (सचित्र दिल्ली) ... ... ॥)

जीवन-चरित

१—महादेव गोविन्द रानडे ... ... ॥)
२—एब्राहम लिंकन ... ... ॥=)

साहित्य

१—साहित्य-सीकर ... ... १)

नीति-धर्म

१—धर्मशिक्षा ... ... १)
२—गार्हस्थ्य-शास्त्र ... ... १)
३—सदाचार और नीति ... ... ॥=)
४—अपना सुधार ... ... ॥)

उपन्यास

१—हृदय का काँटा ... ... १॥)
२—बिखरा फूल ... ... १॥)
३—जीवन का मूल्य ... ... १॥)
४—पाथेयिका ... ... १)
५—फूलवाली (छप रहा है) ... ...

पुस्तकें मिलने का पता—

व्यवस्थापक, तरुण-भारत-ग्रन्थावली दारागंज, प्रयाग